अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद जिस कवि का नाम आता है, वह नंददास हैं। सच तो यह है कि वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग की धार्मिक और दार्शनिक मान्यताओं के समझने के लिए वे सूर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उनके सिद्धांत-ग्रंथ सम्प्रदाय की विचारधारा के समझने के लिए उसी प्रकार अनिवार्य हैं जिस प्रकार तुलसी की रामभक्ति के समझने के लिए रामचरित मानस का उत्तरकांड।

परंतु नंददास वल्लभ-संप्रदाय के व्याख्याता ही नहीं हैं, वे उच्चकोटि के कवि हैं। यदि केवल कवि से कलाकार-कवि बड़ा है, तो वे कवि-कलाकार हैं। प्रसिद्ध ही है—

'और सब गढ़िया, नंददास जड़िया।'

इतने महत्त्वपूर्ण कवि-कलाकार और साम्प्रदायिक व्याख्याता के संबंध में हिंदी में एक भी पुस्तक नहीं लिखी गई, यह हिंदी-समालोचकों के लिए गर्व की बात नहीं।

'नंददास : एक अध्ययन'—जहाँ नंददास के जीवन, उनकी विचारधारा, उनकी साम्प्रदायिक भावना के संबंध में सर्वांगपूर्ण, यद्यपि संक्षिप्त, अध्ययन उपस्थित करता है, वहाँ कवि नंददास की परख भी उसमें मिलेगी। आशा है, सूरदास के अध्ययन के बाद यह नया अध्ययन हिंदी की एक महान आवश्यकता की पूर्ति करेगा।

नंददास-संबंधी एक-मात्र समीक्षा-ग्रंथ।

मूल्य २।।)

आलोचना

नन्ददास : एक अध्ययन

लेखक

रामरतन भटनागर एम० ए०

प्रकाशक

किताब महल

इलाहाबाद

१९४७

इस पुस्तक को मैं अपने पूज्य श्वसुरपद कृष्णभक्त बाबू भगवतप्रसाद की दिवंगत आत्मा को समर्पित करता हूँ जिनका नन्ददास की जन्मभूमि और शिक्षाभूमि से एक चतुर्थ शताब्दी का सम्बन्ध रहा।

—रामरतन भटनागर

भूमिका

हिन्दी कृष्ण-साहित्य में सूरदास और विद्यापति के बाद नन्ददास का नाम आता है। वे वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित थे, और उनका काव्य इस सम्प्रदाय की दार्शनिक एव धार्मिक प्रवृत्तियों को समझने के लिए सूरदास के साहित्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। नन्ददास की सभी सामग्री अभी तक प्रकाश में नहीं आई थी। अब प्रयाग विश्वविद्यालय की कृपा से ऐसी सामग्री 'नन्ददास' ग्रन्थ में सुसम्पादित रूप से प्रस्तुत हो गई है। अतः नन्ददास पर विस्तृत विवेचन संभव है।

प्रस्तुत पुस्तक नन्ददास पर पहला ग्रन्थ है। इसका आधार वही विश्वविद्यालय वाला संस्करण है। नन्ददास के पदों का प्रामाणिक संग्रह उसमें भी नहीं है, 'परिशिष्ठ' में दिए हुए असंपादित पदों को ही प्रामाणिक मानकर काम. चलाया गया है। आवश्यकता इस बात की है, कि कांकरौली का हिन्दी-विभाग नन्ददास के पदों का सुसंपादित एवं प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करे।

—रामरतन भटनागर

विषय-सूची

१

जीवनी

हमारे अन्य भक्त कवियों की भाँति नददास ने भी अपने संबध में कुछ नहीं लिखा है। अतः उनके सबध में भी वही समस्या है जो सूरदास और तुलसीदास जैसे प्रसिद्ध कवियों के संबंध मे है। अब तक प्रयत्न करने पर भी हम उनके निश्चित, प्रामाणिक जीवनवृत्त का निर्माण नही कर सके हैं। फिर भी अन्तर्साक्ष्य और वहिंसाक्ष्य के आधार पर हम इस ओर प्रयत्न कर सकते हैं।

अन्तर्साक्ष्य की सामग्री बहुत कम है। अन्तर्साक्ष्य में ऐसी सामग्री का समावेश होता है जो कवि के अपने ग्रन्थों में पाई जाती है। जैसा हमने ऊपर कहा है नंददास ने अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। अतः उनकी रचनाएं हमे उनकी प्रतिदिन की परिस्थितियों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं देतीं। कवि किस वश का था, किस कुल का था, उसकी जाति क्या थी, जन्मस्थान कहाँ था, हम कुछ नहीं जानते। रचनाओं से हमें उनके वल्लभकुल में दीक्षित होने और उस सम्प्रदाय के माननीय कवि होने के ही प्रमाण उपलब्ध हो सकते हैं। उनके गुरु विट्ठलनाथ थे यह कुछ पदों से जान पड़ता है और गुरु के प्रति उनकी निःसीम श्रद्धा विदित होती है—

प्रात समै की वल्लभसुत कौ उठतहि रसना लीजै नाम,
आनदकारी, मगलकारी, असुर हरन, जन पूरन काम।
इहलोक परलोक के बन्धु, कौ कहि सकै तिहारे गुन ग्राम,
नन्ददास प्रभु रसिक सिरोमनि, राज करौ गोकुल सुख धाम।

(पदावली २८०)

साथ ही यह भी विदित होता है कि वह बहुधा उनके अत्यन्त सन्निकट ही रहते थे। वे कहते हैं—

प्रात समै श्री वल्लभसुत के बदन कमल कौ दरसन कीजै,
तीनि लोक वदित पुरुषोत्तम, उपमा को पटतर कौ दीजै।
श्री वल्लभ कुल उदति चद्रमा, यह छवि नैन-चकोरन पीजै,
'नन्ददास' श्री वल्लभसुत पर तन-मन-धन न्यौछावर कीजै।

(वही, २८१)

और उनकी कामना यही है कि वे बराबर विठ्ठल जी के चरण कमलों का मकरंद प्राप्त कर सकें—

श्री विठ्ठल मगल रूप निधान
कोटि अमृतसम हँस मृदु बोलन सबके जीवन प्रान,
करुणा सिन्धु उदार कल्पतरु देत अभय पद दान।
शरण आये की लाज चहूँ दिश बाजे प्रकट निशान,
तुम्हरे चरण कमल के मकरद मन मधुकर लिपटान।
नन्ददास प्रभु द्वारे रटत हैं, रुचत नहीं कछु आन॥

(परिशिष्ट ४०)

यह भी पता लगता है कि विठ्ठलनाथ के ज्येष्ठ पुत्रादि में भी उनकी श्रद्धा थी। 'विनय पत्रिका' के स्तोत्रों की शैली पर एक श्लोक है जिसका अंतिम पद है—

'नन्ददासन' नाथ पिता गिरधर आदि,
प्रगट अवतार गिरिराजधारी

(पदावली, २८४)

उनके कुछ पदों से उनका ब्रज प्रेम प्रगट है और यमुना की भक्ति भी कितने ही पदों मे प्रगट होती है। "नन्दगॉव नीको लागत मोको" जैसे पद कवि की जीवनी पर इतना ही प्रकाश डाल सकते हैं कि ब्रजवास उसे अत्यत प्रिय था।

इस ग्रन्थ के तीसरे अध्याय मे हमने नन्ददास के दार्शिनिक और धार्मिक सिद्धान्तों का विशद अध्ययन किया है। परिशिष्ट में वल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीमद वल्लभाचार्य और विठ्ठलनाथ के दार्शिनिक एव धार्मिक विचार भी दिये गए हैं। दोनों की साधारण तुलना करने पर ही यह प्रगट हो जाता है कि वे वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे और उन्होंने इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अत्यन्त गहरा अध्ययन किया था। उनके सारे ग्रन्थों से पता चला है कि वे कृष्ण को ब्रह्म और अपना इष्टदेव मानते हैं। उन्होंने वात्सल्य रस के भी कुछ पद लिखे हैं जिससे यह स्पष्ट है कि कृष्ण के बालरूप की भक्ति भी उनमे थी। परन्तु अधिकाश सामग्री का सम्बन्ध गोपियों और राधाकृष्ण की शृगार लीला से है। अतः वे मधुरभाव के भक्त थे।

परन्तु एक आश्चर्य की बात है कि अपने कुछ पदों में वे रामभक्त के रूप में प्रगट होते है जैसे कई पदों में उन्होंने राम के दूत हनुमान के सागर-लघन की कथा लिखी है—

(१)

जब कूद्यौ हनुमान उदधि जानकी सुधि लेन कौं,
देखन कौं दसमाथ, अपने नाथ कौं सुख देन कौं।
जा गिरि पर चढ़ि कुलॉच लीनी उचकैयॉ,
सो गिरि दस जोजन धसि गयौ है धरनी महियॉ।
धरनी धसि गई पताल, भार परे जाग्यौ,
सेसहु कौ सीसजाइ, कमठ पीठ लाग्यौ।
अरुन बदन तेज सदन बड़ौ पीन गात है,
उत्तर तैं दच्छिन मानौ मेरु उड़यौ जात है।

जा प्रभु को नाम लेत भव जल तरि जात है,
सत जोजन सिन्धु कूद्यौ, तौ कैतिक यह बात है।
रामचन्द्र पद प्रताप, जगत में जस जाकौ,
'नन्ददास' सुर नर मुनि कौतुक भूले ताकौ।

(२)

कपि चल्यो सीय सुधि कौ पुनि पायन तन लटकि के।
रिपु को कटक विकट ताको चोथो अंस पटकि कें,
रथ सों रथ भटन सों भट चटपटी सी चटक कें,
जारि कें गढ लंक विकट रावण मुकुट भटक कें।
कितेक छैल तन्दुल से छरे ले ले मूशल पटक कें,
गिरि सों गज गेंद सी गहि डार्यो भूमि मटक कें।
सुरपुर आनन्द उभग उर सों आंस सटक कें,
नन्ददास बहुर्यो नट ज्यों उलट काछो समुद्र सटक कें।

(३)

यह विधि पार पोहोच्यों पवनसुत दूत श्री रघुनाथ को,
छूट्यो जनो धनुष तें सर परम सुभट हाथ को।
थर थर जहां करत मीच ऐसी राजधानी,
पैठत तिहिं लंक बंक कपि न शंका मानी।
पुर मन्दिर गिरि कन्दर सुन्दर मणि राई,
रावण रणवास ढूंढ्यो कहुँ न सीय पाई।
तब कह्यो यह जेतिक सगरी नगरी उचक लीजे,
उहांई ले जाय रामहि जानकी ढूंढ दीजे।
केधों दशकंध अंध इहांई ले मारों,
केंधों रघुबीर आगे बाध रिपुहिं डारों।
यह विधि बल अपनो कपि सोचत जिय मांही,
'नन्ददास' प्रभु की मोहि ऐसी आइस नाहीं।

एक पद में नन्ददास ने 'रामकृष्ण' में अभिन्न भाव के प्रदर्शन कराये है—

रामकृष्ण कहिये निशिभोर

वे अवधेश धनुष धरे वे ब्रज जीवन माखन चोर ।
उनके छत्र चमर सिंहासन भरत शत्रुहन लछमन जोर ॥
उनके लकुट मुकुट पीताम्बर गायन के संग नन्दकिशोर ।
उन सागर में शिला तराई उन राख्यों गिरिधर नखकोर'॥
नन्ददास प्रभु प्रपच तजि भजिये जैसे निरत चन्द चकोर ।

इन पदों की भाषा शैली में वह प्रौढ़ता नहीं है जो नन्ददास की अन्य रचनाओं में पाई जाती है। कदाचित् ये पद उनके वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले की रचना है। वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण की अनन्य भक्ति ही साध्य है जैसा नन्ददास की प्रौढ़ रचनाओं में प्रकट है। इसलिए रामकृष्ण की अभिन्नता वाला पद कदाचित् सम्प्रदाय मे दीक्षित होने से कुछ बाद की रचना है। यदि ये पद प्रमाणिक हैं तो इसमे स देह नहीं कि वल्लभसम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले नन्ददास का सम्बन्ध किसी रामानन्दी सम्प्रदाय से था अथवा वे सेवक-सेव्य-भाव के रामभक्त थे, उसी तरह जैसे तुलसी।

नन्ददास की कुछ रचनाओं में यह प्रकट है कि उन्हें सस्कृत का अच्छा -ान था और वे रस शास्त्र में भी पारगत थे। उन्होंने 'दशमस्कंध' में भागवत के दशमस्कध के २६ अध्यायों का अनुवाद उपस्थित किया है, रासपचाध्यायी ग्रन्थ मे वे जगदेव के 'गीतगोविन्दम्' की शैलीका अनुकरण कर रहे हैं, नाममाला को उन्होंने 'अमरकोष के भास' लिखो है। अनेकार्थमंजरी से भी उनके विपुल सस्कृत शब्दकोष का ज्ञान होता है। स्वय अपने ग्रन्थों में उन्होंने अपने एक 'रसिकमित्र का उल्लेख किया है जो सस्कृत नहीं जानते थे, या कम जानते थे और जिनके लिए उन्होंने संस्कृत से अनुवाद उपस्थित किये। दशमस्कध प्रथम अध्याय में नन्ददास लिखते हैं—

परम विचित्र मित्र इक रहै, कृष्ण चरित सुन्यौ सो चाहै,
तिन कही दशमस्कंध जु आहि, भाषा करि कहु बरनौ ताहि।
शब्द संस्कृत के हैं जैसे, मो पै समुझि परत नहिं तैसे,
तातैं सरल सु भाषा कीजै, परम अमृत पीजै, सुख जीजै।

(२—६)

नन्ददास के दूसरे ग्रन्थों में भी इस मित्र का उल्लेख है—

एक मीत हम सौं अस गुन्यौ, मैं नाइका भेद नहि सुन्यौ

(रस मंजरी, ११)

परम रसिक इक मित्र, मोहि जिन आज्ञा दीनी,
तातैं मैं यह कथा, जथामति भाषा कीनी।

(रासपंचाध्यायी, ४०)

कवि के यह रसिक मित्र कौन हैं, यह एक समस्या है, जिसका हल नहीं हो रहा है। विद्वानों ने इनके विषय में कई अनुमान किये हैं। श्रीदीनदयालु गुप्त एम० ए० लिखते हैं—

"रूपमंजरी ग्रन्थ में कवि ने रूपमंजरी की एक सहेली का जिक्र किया है। ग्रन्थ पढ़ने से ज्ञात होता है कि वह सहेली इन्दुमती स्वयं नंददास ही हैं। इससे नंददास की बहुत मित्रता थी। सम्भव है यह रूपमंजरी कवि का रसिक मित्र हो। इस विषय में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।"

(दे० हिन्दुस्तानी, जूलाई १६४०)

हो सकता है, रूपमंजरी ऐतिहासिक व्यक्ति हो। श्री गोवर्द्धननाथ की प्राकट्य की वार्त्ता में एक रूपमंजरी के साथ नंददास की मित्रता की बात पाई जाती है—

"एक दिनां श्रीनाथ जी ग्वालियर की बेटी रूपमंजरी के संग चौपड़ खेलबे पधारे चार प्रहर चौपड़ खेले और बीन सुने वह बीन आछी बजावत हती चार प्रहर रात्रि वहाँ ही बिराजे नंददास जी को वाको संग हतो गुणगान आछो करत हती ताके लिए नंददास जी रूपमंजरी

ग्रन्थ कियो है तामे चौपाई धरी है—रूपमजरी त्रिया को हीयो।। सो गिरिधर निज आलय कियौ ।।"

(पृष्ठ, २६)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि—

१—रूपमंजरी ग्वालियर की बेटी थी।

२—वह वैष्णव भक्त थी, श्रीनाथ जी की उपासिका।

३—नददास से उसकी गहरी मित्रता थी।

४—वह वीणावादन और कीर्तन में अत्यन्त निपुण थी।

५—नंददास ने रूपमजरी ग्रन्थ उसी के लिए किया।

'रूपमंजरी' के अतिरिक्त चार अन्य ग्रन्थों का नाम 'मंजरी' पर रखा गया है। इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। 'मजरी' शब्द नंददास को विशेष प्रिय है, यही लगता है। परन्तु क्यों प्रिय है, इसका समाधान केवल "प्राकट्यवार्ता" के इस उल्लेख से ही होता है। हो सकता है कि इसी की मित्रता को अमर करने के लिए और अपने सम्बन्ध के कारण इसे प्रसिद्धि देने के लिए नंददास ने रूपमजरी की रचना की हो। "नददास" के सम्पादक ने एक नया अनुमान उपस्थित किया है जिसका आधार रूपमंजरी की कथावस्तु है—

"कदाचित रूपमजरी का वैवाहिक जीवन असफल था और अन्त में वह कृष्ण भक्त हो गई थी। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उससे घनिष्ठता होने के कारण कवि ने उसके वृत्त को प्रकट न किया हो।"

(पृष्ठ, ६३)

जो हो, नंददास के रसिक मित्र के सम्बन्ध में हम अभी पूर्णतयः एकमत नहीं हैं।

वहिर्साक्ष्य के लिए अब हमें प्रचुर सामग्री प्राप्त हो गई है। अभी कुछ समय तक हमारे सामने केवल नाभादास का भक्तमाल और प्रियादास और सेवादास की रची हुई भक्तमाल की टीकाएँ तथा २५२ वैष्णवन

परम विचित्र मित्र इक रहै, कृष्ण चरित सुन्यौ सो चाहै,
तिन कही दशमस्कंध जु आहि, भाषा करि कहु बरनौ ताहि।
शब्द संस्कृत के हैं जैसे, मो पै समुझि परत नहिं तैसे,
तातैं सरल सु भाषा कीजै, परम अमृत पीजै, सुख जीजै।
(२—६)

नन्ददास के दूसरे ग्रन्थों में भी इस मित्र का उल्लेख है—

एक मीत हम सौं अस गुन्यौ, मैं नाइका भेद नहि सुन्यौ
(रस मंजरी, ११)

परम रसिक इक मित्र, मोहि जिन आज्ञा दीनी,
तातैं मैं यह कथा, जथामति भाषा कीनी।
(रासपंचाध्यायी, ४०)

कवि के यह रसिक मित्र कौन हैं, यह एक समस्या है, जिसका हल नहीं हो रहा है। विद्वानों ने इनके विषय में कई अनुमान किये हैं। श्रीदीनदयालु गुप्त एम० ए० लिखते हैं—

"रूपमंजरी ग्रन्थ में कवि ने रूपमंजरी की एक सहेली का जिक्र किया है। ग्रन्थ पढ़ने से ज्ञात होता है कि वह सहेली इन्दुमती स्वयं नंददास ही हैं। इससे नंददास की बहुत मित्रता थी। सम्भव है यह रूपमंजरी कवि का रसिक मित्र हो। इस विषय में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।"
(दे० हिन्दुस्तानी, जूलाई १६४०)

हो सकता है, रूपमंजरी ऐतिहासिक व्यक्ति हो। श्री गोवर्द्धननाथ की प्राकट्य की वार्त्ता में एक रूपमंजरी के साथ नंददास की मित्रता की बात पाई जाती है—

—"एक दिना श्रीनाथ जी ग्वालियर की बेटी रूपमंजरी के संग चौंपड़ खेलवे पधारे चार प्रहर चौंपड़ खेले और बीन सुने वह बीन आछी बजावत हती चार प्रहर रात्रि वहाँ ही बिराजे नंददास जी को वाको संग हतो गुणगान आछो करत हती ताके लिए नंददास जी रूपमंजरी

ग्रन्थ कियो है तामे चौपाई धरी है—रूपमजरी त्रिया को हीयो।। सो
गिरिधर निज आलय कियौ ।।"

(पृष्ठ, ३६)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि—

१—रूपमजरी ग्वालियर की बेटी थी।

२—वह वैष्णव भक्त थी, श्रीनाथ जी की उपासिका।

३—नंददास से उसकी गहरी मित्रता थी।

४—वह वीणावादन और कीर्तन में अत्यन्त निपुण थी।

५—नददास ने रूपमजरी ग्रन्थ उसी के लिए किया।

'रूपमंजरी' के अतिरिक्त चार अन्य ग्रन्थों का नाम 'मंजरी' पर रखा गया है। इसमे कुछ रहस्य अवश्य है। 'मजरी' शब्द नंददास को विशेष प्रिय है, यही लगता है। परन्तु क्यों प्रिय है, इसका समाधान केवल "प्राकट्यवार्ता" के इस उल्लेख से ही होता है। हो सकता है कि इसी की मित्रता को अमर करने के लिए और अपने सम्बन्ध के कारण इसे प्रसिद्धि देने के लिए नंददास ने रूपमजरी की रचना की हो। "नददास" के सम्पादक ने एक नया अनुमान उपस्थित किया है जिसका आधार रूपमजरी की कथावस्तु है—

"कदाचित रूपमजरी का वैवाहिक जीवन असफल था और अन्त में वह कृष्ण भक्त हो गई थी। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उससे घनिष्ठता होने के कारण कवि ने उसके वृत्त को प्रकट न किया हो।"

(पृष्ठ, ६३)

जो हो, नंददास के रसिक मित्र के सम्बन्ध में हम अभी पूर्णतयः एकमत नहीं हैं।

वहिर्साक्ष्य के लिए अब हमें प्रचुर सामग्री प्राप्त हो गई है। अभी कुछ समय तक हमारे सामने केवल नाभादास का भक्तमाल और प्रियादास और सेवादास की रची हुई भक्तमाल की टीकाएँ तथा २५२ वैष्णवन

और नंददास का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य ही था क्योंकि उसमें तुलसीदास नन्ददास से कहते हैं—

'तू ब्रज में मत जाय'

तो नंददास उत्तर देते हैं।

जब बिंध चुके तब आना जाना कैसा।

(दे० श्रीदीनदयालु गुप्त का लेख : महाकवि नंददास का जीवन चरित्र, हिन्दुस्तानी, जूलाई १६४०)

इन प्रमाण ग्रन्थों के बाद एक दूसरी- श्रेणी के ग्रन्थ आते हैं। ये हैं तीन वार्ता ग्रन्थः २५२ वार्ता डाकोरवाली और भावनावली तथा श्री गोसाईं जी के चार निज सेवकों की वार्ता। इन ग्रन्थों से नंददास के जीवनचरित्र पर पूरा पूरा प्रकाश पड़ता है, अतएव उन्हें विस्तार पूर्वक उद्धृत करना उचित होगा।

काकरौली के विद्याविभाग में ८४ वार्ता की सं० १६६७ की लिखी प्रति वर्तमान है। उसमे नंददास का वृतान्त इस प्रकार है—

अब श्री गुसाईं जी के सेवक नंददास जी सनाढ्य ब्राह्मण, रामपुर में रहते, जिनके पद अष्ठछाप में गाइयत हैं, तिनकी वार्ता

प्रसंग १

सो वे तुलसीदास जी के भाई सनोढ़िया ब्राह्मण हते। सो तुलसीदास जी तो बड़े भाई, और छोटे भाई नंदनास जी हे। सो वे नंददास जी पढ़े बहुत हते।

तुलसीदास जी तो रामानंदीन के सेवक हते। सो नंददासहू को रामनंदीन को सेवक करवायो। सो उन नंददास में लौकिक विषय में प्रीति हती। जो कहूँ भवैया नाचे तो तहाँ जायके ठाड़े रहें, सुनवे लगें। सो तुलसीदास जी नंददास को बहुत समुझावे जो जहाँ तहाँ तुम मति वेठिवो करे। सो वे नंददास मानते नाही।

सो कछुक दिन में एक संघ पूरब तें चल्यो। सो श्री रणछोड़ जी के दरशन को श्री द्वारका जी को चल्यो। तब नन्ददास ने मन में विचार

जो —बने तो मैं हूँ ऐसे संघ में श्री रणछोड़ जी के दरशन करि आऊं। तब नन्ददास जी ने तुलसीदास जी सों कह्यो, जो तुम कहो तो मैं या संघ में श्री रणछोड़ जी को दरशन करि आऊ, तब तुलसीदास जी ने नन्ददास जी को बहोत समुझायो जो—तू कहीं मति जाय, मारग में दुःख बहोत हैं। अनेक दुःसंग हैं। जो—जायगो तो तूं भ्रष्ट होय जायगो। ताते तू श्री रणछोड़ जी ताईं न पहुँच सकेगो, बीच ही में रहेगो। तातें श्री रघुनाथ जी कों स्मरण कर अपने घर में बैठ्यो रहे।

तब नन्ददास ने तुलसीदास जी सों कह्यो जा—मेरे तो श्री रघुनाथ जी हैं, परि मैं एक बार रणछोड़ जी के दरशन कों अवश्य करिके जाऊ गो। तुम कोटि उपाय करो परि मैं न रहूँगो।

तब तुलसीदास जी ने जान्यो जो—यह न रहेगो। जब संघ में जो—मुखिया सरदार हतो ताके पास नन्ददास कौ लेके तुलसीदास जी गये। और मुखिया सों नन्ददास की भलामन तुलसीदास जी ने दीनी, जो—यह नन्ददास तुमारे संग आवत है। ताते तुम मारग में याकी खली राखियो। ऐसो करियो जो—इहा फेरि नन्ददास आवे, काहु गाम में रहि न जाय।

तब वा मुखिया ने कह्यो जो—आछो, या बात की चिन्ता मति करो।

ता पाछे वह संघ चल्यो, सो वाके संग नन्ददास हू चल्यो। सो कछुक दिन में वह संघ मथुरा जी में आप पहुँच्यो। तब संघ तो मधुपुरी में रह्यो, और नन्ददास तो मधुपुरी की शोभा देखत देखत विश्रात ऊपर आये। सो वहा अनेक स्त्री पुरूष स्नान करत देखे, और सुन्दर स्वरूप के देखे सो नन्ददास तो मन मे देखि के बहुत ही मोहित भये। और मन में विचार कियो जो—ऐसी जगह में कछुक दिन रहिये तो आछो है। सो या भांति नन्ददास अपने मन में लुभाये।

ता पाछें नन्ददास ने अपने मन में यह विचार कियो जो—एकबार श्री रणछोड़ जी ने दरशन करि आऊं। ता पाछें आइके विश्रातघाट ऊपर रहेंगे।

पाछे नन्ददास ने सुनी जो—संघ तों मथुरा जी में दस दिन और रहेगो। तब इनने विचार कियो जो—संग तो अब ही मथुरा जी में बहुत दिन लों रहेगो। तो मैं इतने अकेलो होय के भी रणछोड़ जी के दरशन कों जाऊँगों।

ऐसा विचार अपने मन में नन्ददास करिकै रात्रिकों तो सोय रहे। ता पाछे नन्ददास प्रातःकाल उठिके चले, सो काहू तें कछु कही नाहीं। पाछे वा संघ में जो मुखिया हते ताने अपने संग में नन्ददास को जब न देखो, तब सगरी मथुरा जी में ढूंढयो।

जब नन्ददास जी कहूं नजर न पड़े, तब ढूंढि के बैठि रहे। और नन्ददास ने तो कांहू सो पूछी हू नाही। वे तो अकेले चले ही गये। सो भी द्वारिका जी को तो मारग भूलि गये, और चले २ सिंहनद में जाइ निकसे।

सो गाम के भीतर चले जात रहे। तहाँ एक क्षत्री श्री गुसाईं जी को सेवक रहतो रहो। सो ताकी बहू अत्यन्त सुन्दर हती, सो वह स्त्री अपने घर में नहाय के ऊपर ठाड़ी २ केश सुखावत हुती। सो चले जात में यह स्त्री नन्ददास की दृष्टि परी। सो नन्ददास तो वाकों देखिकें मोहित भये। और मन में कह्यो जो—या पृथ्वी ऊपर ऐसे हू मनुष्य हैं! और वह स्त्री तो उतरि के अपने घर के कामकाज में लगी। और नन्ददास तो वहीं ठाड़े ठाड़े मन में विचार करन लागे, जो—अब तो एकबार याकों मुख देखों तब जलपान करूंगो।

पाछे ता दिन तो नन्ददास गये सो कोउ स्थल में जायके सोय रहे रात्रि कों।

ता पाछे दूसरे दिन नन्ददास प्रातःकाल उठिके वा स्त्री के द्वार पर आइके बैठे। सो नन्ददास कों तो बैठे बैठे तीन पहर व्यतीत होय गये। तब वा क्षत्री के एक लोंडी हती ताने बहू सों कह्यो जो—एक ब्राह्मण प्रातःकाल को अपने घर के द्वार ऊपर बैठ्यो है। सो वाने पानी हु नांहीं पियो। तब बहू ने लोंडी सों कह्यो जो वा ब्राह्मण सों पूछो तो सही जो तुम द्वार ऊपर काहे कों बैठे हो?

तब या लोंडी ने आइके दन्ददास सों कह्यो जो—तुम इहा हमारे द्वार पे क्यों बैठे हो? तब नन्ददास ने वा लोंडी सो कहयो जो—मैं तो तेरी बहू को एकबार मुख देखूंगो। ता पाछे जलपान करूंगो, तब जाऊंगो। तब वा लोंडा यह सुनिके अपनी बहू पास गई। और यह सब बात बहू सों कही जो—वह ब्राह्मण तो तिहारो मुख देखि को जायगो। तब बहू ने लोंडी सो कह्यो जो मैं वाकों अपनो मुख दिखाऊंगी नाहीं। वह तो आपहीते उठि जायगो।

सो ऐसे ही नन्ददास कों हू साज पड़ि गई × × × सो या भाँति सों लोंडी ने अपनी बहू सों कह्यो जो जीवमात्र के ऊपर दया राखनी। तातें ब्राह्मण प्रातःकाल को भूख्यो प्यासो बैठ्यो है, सो यह बात आछी नहीं है। तब वह बात बहू के हिरदे में आई। पाछे पाछे वा लोंडी के संग बहू द्वार ऊपर गई। तब नन्ददास वाको मुख देखि के उठि गये।

सो या भाँति सो वे नन्ददास नित्य आवे सो वाकों मुख देखिके चले जाय। तब वाके पाछे घर के धनी क्षत्री ने सुनी—जो यह ब्राह्मण हमारे घर याकों देखवे कों आवत है। तब वा क्षत्री ने आयके नन्ददास सों कह्यो जो तुम हमारे घर के द्वार पर नित्य आवत हो, सो हमारी जगत में हासी बहोत होत है।

तब नन्ददास ने वा क्षत्री सों कह्यो जो—मैं तुमते माँगत नहीं, कछु तुमारो बिगरत नहीं। ता पाछे और तुम कहत हों मोसों, तो मैं तुमारे माथे मरूगो।

तब यह नन्ददास के वचन सुनि के यह क्षत्री डरायो, जो अब यातें मैं बोलूंगो तो—यह ब्राह्मण हत्या देयगों, सो कछु कहे नाहीं। और नन्ददास तो वेसेई नित्य आवें, सो वाको मुख देखिके परें जायं।

ता पाछे कितेक दिन में यह बात सगरे गाम में भई। जो—फलाने क्षत्री की बहू को एक ब्राह्मण देखिवे कों नित्य आवत है। सो यह बात

सुनिके वा छत्रीकों लाज आई। जब छत्री ने अपने पुत्र सों कह्यो जो—अब हमकों यह गाम छोड़ने आवो।

ता पाछें घर में की सब वस्तु भाव वेचिके सब की हुंडी कराई। ता पाछें एक गाड़ी भाड़े करि दसपाँच मनुष्य मारग के लिये चाकर राखे। प्रातःकाल तें नन्ददास वा बहू को म्होड़ो देखिके गये हते। ता पाछे वह छत्री को बेटा, छत्री की बहू और चौथी लोंडी, सो ये चारों जने वा गाड़ी मे बैठिके श्री गोकुल कों चलें।

ता पाछे दूसरे दिन नन्ददास वाके घर आये। सो देखे तो वाके घर में ताला लग्यो है। तब नन्ददास ने वाके परोसिन सों पूछीं, जो—आज या घर के ताला लाग्यो है, सो या छत्री के घर के लोग कहाँ गये?

तब और लोगन ने कही जो—जा भले आदमी, तेरे दुःखतें तो वा छत्री ने अपनो गाम हू छाड़ि दीनो है। सो वह तो काल प्रात ही को श्री गोकुल कों गयो है।

यह बचन सुनते ही नन्ददास तो अपने डेरा में आये। जा अपनी वस्तु भाव लेके ताही समे श्री गोकुल कों चले। चलत ९ साझ के समय जहां वा छत्री की गाड़ी उतर रही, तहा नन्ददास हूँ जाय पहोंचे। सो जायके वा छत्री की गाड़ी के निकट ही बैठि गये।

तब वा छत्री ने नन्ददास को देखि के कहियो, जो जा दुख तें हमने अपनो घर छोड्यो, देश छोड्यो, सो दुख तो हमारे संग ही लागयो आयो। ता पाछे वा छत्री के मनुष्य वासों लड़न लागे, जो तू हमारे संग काहे को आवत है? तब नन्ददास उठि के दूरि जाय बैठे। और कह्यो जो—हम तुमसों माँगत हो नाहीं कछू, और यह गामहू तुमारो नाहीं, ता पाछे रात्रि को तो तहाँ सोय रहे।

प्रातःकाल होते ही वह छत्री तो गाड़ी मैं बैठ के तहाँ ते चल्यो। तब वासों नेक दूरि के नन्ददास हूँ चले। सो याही भाँति कछुक दिन में श्री गोकुल के घाट ऊपर आये।

तब उन क्षत्री ने विचार कियो जो हम तो या ब्राह्मण के दुख मारे गाम छोड़िके आये। तोहू वह तो हमारे संग ही आयो है। तातों ऐसो जतन होई, जो यह हमारे संग श्री जमुना जो उतर के श्री गोकुल न चले तो आछो है, नाहीं हमारी हँसो श्री गोकुल जो मे हायगी। और श्री गोसाई जी यह बात सुनेंगे तो—यह बात अच्छो नहीं है!

तब उन मलाहन सों कहे, घटवारन सों वा क्षत्री ने कह्यो जो हम तुमको कछुक द्रव्य देयगे, परि या का ब्राह्मण को पार मति उतारो। पाछे वह छत्री नाव में बैठ्यो; तब नन्ददासहू नाव पर बैठन लागे, तब उन मल्लाह ने हाथ पकरि के उतार दियो नाव पें ते। तब नन्ददास तो भी जमुना जी के तीर ठाढ़े ठाढ़े विचार करन लागे और वह क्षत्री तो नाव में बैठि के की जमुना जी के पार भयो।

ता पाछे वह क्षत्री की गोकुल में आयके, लोंडी कों एक ठोर बैठाय के, वाके पास सब वस्तुभाव धरि के आप तीनों जने श्री गुसाईं जी के दरशन को आये। सो श्री नवनीत प्रियजी के राजभोग के दरशन के ता पीछेअन्तोसर कराये के की गुसाई जी अपनी बैठक में पधारे। तब इन तीनों जनेन ने भेट धरी, और दडवत कीनी।

तब श्री गुसाई जी ने पूछी जो वैष्णव! कब के आये हो! तब इन कही जो महाराज अब ही आये हैं। श्री नवनीति प्रिय जी के राजभोग की आरती के दरशन आपकी दयाते करे हैं। अब श्री गुसाईं जी कहे जो आज तुम प्रसाद इहाँ ही लोजा अब बैठो।

ऐसे आज्ञा दे श्री गुसाईं जी आप तो भोजन क्यों पधारे। ता पाछे आचमन करिके अपनी जूठन की पातरि वा क्षत्री को धरी। सो चार पातर श्री गोसाईं जी ने उनके आगे धरी।

तब वा वैष्णव ने श्री गुसाईं जी सो विनती कीनो जो महाराज हम तो तीन ही जने हैं! और अपने चार पाती कौन कौन पा रही हैं। इहाँ तो और वैष्णव कोइ दीखत नाहीं।

तब श्री गुसाईं जी ने कह्यो जो वह तुमारे संग ब्राह्मण आयो है, बाको तुम पार छोड़ि आये हो। सो वह कौन के घर जायगो!

तब ये बचन श्री गुसाईं जी की सुनि के तीनों जने लजित भये। और कहे—जो बात तें देखो हम डरपत हते जो हमारी हँसी श्री गोकुल में न होय तो आढ़ो हैं, सो यहाँ तो पहले ही प्रसिद्धि होय रही है। ऐसे कहि के वे तीनों जने अत्यन्त सोच करन लागे।

सो श्री गुसाईं जी वा क्षत्री सो कहे जो तुम सोच काहे को करत हो? दैवी जीव है, तुमारो संग पाइ के इहाँ आयो है सो अब तुमको दुख न देहिगो।

ऐसे बासों कहिके एक ब्रजवासी मों बुलाय ते आइस दीनी जो—तू पार जाइके तहाँ श्री जमुना जी के तीर एक नन्ददास ब्राह्मण बैठ्यो है, ताको बलाय लाव।

तब यह ब्रजवासी तत्काल आइ के नाव में बैठि पार को चल्यो। और नन्ददास को तो उन मलाहन ने नाव पे तें उतार दियो, सो श्री जमुना जी के तीर बैठे श्री जमुना जी के आगे विज्ञप्ति के पद गावन लागे सो पद—

राग रामकली १ नेहकारन श्री जमुना प्रथम आइ २ भक्त पर कृपा श्री जमुना जी ऐसी ३ श्री जमुने जमुने जो गावे।

सो या भाँति नन्ददास तो श्री जमुना जी के तीर बैठे-बैठे श्री जमुना जी की स्तुति करत है।

इतने में वह ब्रजवासी जाको श्री गुसाईं जी ने नन्ददास को लेवे पठायो हतो, सो नाव लेके पार जाय पहुँच्यो। सो इहाँ जाय के पूछ्यो जो नन्ददास ब्राह्मण कहाँ है! तब इन कही जो नन्ददास ब्राह्मण तो मैं ही हूँ तब ब्रजवासी ने कह्यो जो तुमको श्री गुसाईं बुलाये हैं, और यह नाव पठाई हतो, सो नाव ले के पार जाय पहुँच्यो। तामें तुम बैठि के बेगि चलो।

तब तो नन्ददास प्रसन्न होइके श्रीजमुनाजी को दण्डवत करिके श्रीगोकुल को दंडवत करि नाव में बैठिके पार आये। और आयके श्रीगुसाईंजी कों दरशन करिके साष्टाग दंडवत करी। सो दरशन करत ही नन्ददास की बुद्धि निरमल होय गई।

तब तो श्री गुसाईंजी सो हाथ जोरि बिनती करी जो महाराज मैं तो जबतें जनम पायो, तबतें विषय करत ही जनम गयो। और आप तो परम कृपालु हो, मेरे ऊपर कृपा करिकें मोकों अपनी शरण लीजे।

सो ऐसे दैन्यता के वचन नन्ददास के सुनिके श्री गुसाईंजी बहोत प्रसन्न भये। तब श्रीगोसाईंजी श्रीमुख तें आज्ञा किये जो नन्ददास, जाओ, स्नान करिके अपरस ही में इहाँ आइयो।

तब नन्ददास वैसे ही स्नान करिके अपरस ही में श्रीगुसाईं जी के पास आये। श्री गुसाईंजी ने नन्ददास को नामनिवेदन (भावात्मक रूप सों) करवायो। तब श्रीगुसाईंजी कों स्वरूप नन्ददास के हृदय दृढ़ भयो, ता समें नन्ददास ने यह कीर्तन कियो सों पद, राग विलावल 'जयति श्रीरुक्मिनीनाथ पद्मावती-प्राणपति विप्रकुल-छत्र आनन्दकारी'

नन्ददास ने कीर्तन गायो। सो सुनि के श्री गुसाईंजी बहुत ही प्रसन्न भये। ता पाछे श्री गुसाईंजी नन्ददास को आज्ञा दीनी—तेरी महाप्रसाद की पातर धरी है, सो जाइके महाप्रसाद लेवो।

सो नन्ददास आइके महाप्रसादी रसोईघर में जाइके श्री गोसाईंजी की जूठन को प्रसाद लेन लागे। सो लेत ही स्वरूपानन्द को अनुभव होन लग्यो। सो नन्ददास तो देह को अनसधान भूल गये, और जहाँ के तहाँ बैठि रहि गये। सो हाथ धोयवे की हू सुधि न रही।

जब उत्थापन को समय भयो, तब भीतरिया ने आइकै श्री गुसाईं जी सो कह्यो—जो महाराजाधिराज—नन्ददास जी तो महाप्रसाद लेके

उहांईं बैठि रहे हैं, उठे नाही हैं। तब श्री गुसाईंजी ने उन भीतरिया सों कह्यो—जो तुम नन्ददास तें कोऊ बोलो मति।

ता पाछे चारि प्रहर रात्रि गई तो नन्ददास कों देह की सुधि न रही।

ता पाछे दूसरे दिन प्रातःकाल नन्ददास के पास श्री गुसाईंजी पधारे। तब श्री गुसाईंजी ने नन्ददास के कान में कह्यो—उठो नन्ददास, दरशन को समय भयो है। तब नन्ददास उठि के श्री गुसाईंजी को साष्टांग दंडवत करी। ता समे नन्ददास ने यह कीर्तन कियो—सो पद

रागविभास—१ प्रात भये श्री वल्लभसुत को धन्य पवित्र विमल जस गाऊँ। २ प्रात भये श्री वल्लभसुत को उठत ही रसना लीजे नाम०।

सो सुनिके श्री गुसाईंजी बहोत प्रसन्न भये।

ता पाछे श्री गुसाईंजी तो मन्दिर में पधारे और नन्ददास आप देहकृत्य करिवे गये। ता पाछे श्रीनवनीतप्रियजी के दरशन को समय भयो। सो नन्ददास ने यह पद गायो। सो पद—

राग विलावल। १ 'गोपाल ललन को गोद भरि जसुमति दुलरावति०।'

यह कीर्तन नन्ददास ने गायो। सो सुनि के श्री गुसाईंजी बहोत प्रसन्न भये। तब नन्ददास ने श्री गुसाईंजी सों हाथ जोरि साष्टांग दंडवत करिके कह्यो—जो महाराज! मोसे पतित को उद्धार करोगे! सो वे नन्ददास श्री गुसाईंजी के ऐसे कृपापात्र भगवदीय भये।

प्रसंग २

और एक श्री गुसाईंजी रात्रि को अपनी बैठक में विराजे हते। तब आप आज्ञा करे—जो कालि श्रीनाथजी द्वार अवश्य जानो। तब नन्ददास ने विनती कीनी जो—महाराजाधिराज! जैसे आपु कृपा करिके श्रीनवनीतप्रियजी के दरशन करवाये, तेसे श्रीनाथजी के दरशन करवावो।

ता पाछे प्रात भये श्रीनवनीतप्रियजी के मंगला के दर्शन करिके, शृंगार राजभोग करिके श्री गुसाईंजी श्रीनाथजी द्वार पधारे, और नन्ददास कोहू संग लियो। सो उत्थापन के समय श्री गिरिराज आइ पहोंचे। श्री गुसाईंजी तो न्हाय के मन्दिर में पधारे।

समो भयो तब दरशन को टेरा खुल्यो। सो नन्ददास श्रीगोवर्द्धननाथ के दर्शन करिके बहुत प्रसन्न भये। ता समे नन्ददास ने यह कीर्तन गायो। सो पद—

राग नट। 'सोहत सुरग दुरंग पाग कुरंग ललना केसे लोइन लोने०।

यह कीर्तन नन्ददास ने गायो, सो श्री गुसाईंजी मंदिर में सुने। पाछे टेरा खेंचि लियो। ता पाछे परमानन्द में नन्ददास ने बैठे बैठे औरहू कीर्तन किये। पाछे संध्यार्ति के दरशन खुले तब नन्ददास ने दरशन करिके यह कीर्तन गायो। सो पद—

राग गौरी।

१ बनतें सखन संग गायन के पाछे पाछे आवत०।
२ बनतें आवत गोरी०।
३ देखि सखी हरि को बदन सरोज०।
४ नंद महरि के मिष ही मिष आवे गोकुल की नारी०।

सो या भाँति नन्ददास ने बहोत कीर्तन किये।

ता पाछे नन्ददास ६ मास पर्यंत सूरदास जी के संग परासोली में रहे, पाछे श्री गोकुल में रहे। सो श्री गुसाईंजी नन्ददास ऊपर सदा प्रसन्न रहते। वे नन्ददास एसे कृपापात्र भगवदीय रहे।

प्रसंग ३

और एक समय श्री मथुराजी को एक संघ पूरब को चल्यो, गया श्राद्ध करिवे कों। ता संघ में दस पाँच वैष्णवहू हते। सो कितेक दिन में वह संघ पूरब को चल्यो, काशी जी जाइ पहुँच्यो।

तब तुलसीदास जी ने सुन्यो जो संघ आयो है। तब वा संघ में तुलसीदास जी ने आइके पूछी जो एक नन्ददास ब्राह्मण इहां ते गयो है, सो मथुरा जी में सुन्यो है। सो तुमने कहुँ देख्यो होय तो कहो।

तब एक वैष्णव ने कही जो तुलसीदास जी एक नन्ददास तो श्री गुसाईं जी को सेवक भयो है। सो वह नन्ददास पहले तो अत्यन्त विषयी हतो, सो अब तो बड़ो ही कृपापात्र भगवदीय भयो है।

तब तुलसीदास जी अपने मन में विचारे—एसो तो वही नन्ददास है, सो श्री गुसाईं जी को सेवक भयो है। जो अब तो उनकों मेरी शिक्षा न लगेगी।

तब तुलसीदास जी ने उन वैष्णव सों कह्यो जो मैं तुमको एक पत्र देऊँ, ताको जवाब तुम मोकों मगाय देउगे?

तब उन वैष्णवन ने तुलसीदास सों कही जो काल मेरो मनुष्य श्री गोकुल कों चलेगो। जो तुमको पत्र देनो होय तो लिखि के वेगि त्यार करियो। तब श्री तुलसीदास ने ताही समे पत्र लिखि के तैयार कियो। तामें लिख्यो जो तू पतिव्रत धर्म छोड़ि व्यभिचारी धर्म लियो, सो आछो नाहीं कियो। अब तू आवे तो फेरि तोंकों पतिव्रत धर्म बताऊँ।

यह पत्र तुलसीदास जी ने वा वैष्णव के हाथ दियो। सो वह पत्र अपने पत्रन में धरिके वा वैष्णव ने कासिद के हाथ दियो। सो वह पत्र लेके श्री गोकुल आयो। तब कासिद ने दंडवत करिके वे पत्र श्री गुसाईं जी के आगे धरे। तब उन पत्रन में नन्ददास के नाम को जो पत्र हतो सो निकस्यो। तब श्री गुसाईं जी ने वह पत्र बांचि के नन्ददास को बुलाइ के दियो।

तब नन्ददास ने वह पत्र लेके बांच्यो। पाछे वा पत्र को प्रतिकार लिख्यो जो मेरो तो प्रथम रामचन्द्रजी सों विवाह भयो हुतो। सो बीच में श्रीकृष्ण दौरि आइके लूटि ले गये। सो रामचन्द्रजी में जो बल होतो तो मोकों श्रीकृष्ण कैसे ले जाते? और श्री रामचन्द्र जी तो एक पत्नीव्रत

हैं। सो दूसरी पत्नीन कूं केसे सँभार सकेंगे? एक पत्नीहू बराबर सँभारि न सके, सो रावण हरिके ले गयो। और श्रीकृष्ण तो अनन्त अबलान के स्वामी हैं, और इनकी पत्नी भई पाछे कोई प्रकार को भय रहे नाहीं है। एक कालावच्छिन्न अनन्त पत्नीनकुं सुख देत हैं। जासों मैंने श्रीकृष्ण पति कीने हैं। सो जानोगे। सो मैं तो तन, मन, धन यह लोक, परलोक श्रीकृष्ण को दीनों है। अब तो मैं परवश होइके परयो हूं।

ऐसो नन्ददास ने तुलसीदास जी को पत्र लिख्यो। तामें यह पद लिख्यो। सो पद—

राग आशावरी—१ कृष्ण नाम जबतें श्रवण सुन्यो री आली०

यह कीर्तन नन्ददास ने वा पत्र में लिखिके वह पत्र कासिद कों सोंप दियो। सो वह कासिद कितेक दिनन में काशी जी में आयो। सो वे पत्र सब वैष्णवन को दिये।

तब उन वैष्णवन ने वह नन्ददास को पत्र बाँचि के तुलसीदास जी कों बुलाय के दीनो। पाछें तुलसीदासजी ने नन्ददास को पत्र बाँचि के अपने मन में कह्यो जो अब नन्ददास इहाँ कबहू न आवेगो। ऐसो जानि के तुलसीदास अपने घर आये।

सो वे नन्ददास जी श्री गुसाईंजी के ऐसे कृपापात्र भगवदीय भये जिनको श्री गुसाईंजी के स्वरूप में ऐसो दृढ़ भाव हतो।

प्रसंग ४

और एक समय तुलसीदास जी ने विचार कियो जो नन्ददास श्री गोकुल में है, सो मैं जाइ के लिवाय लाऊँ। यह विचारि के तुलसीदास जी काशीतें चले, सो कितेक दिन में श्री मथुरा जी में आइ पहोंचे।

तब मथुरा जी में पूछे जो 'इहां नन्ददास ब्राह्मण काशीतें आयो है, सो तुम जानत होउ तो बताओ, जो, वह कहाँ होयगो? तब काहू ने

कह्यो जो एक नन्ददास तो आइके श्री गुसाईं जी को सेवक भयो है, सो तो गोकुल होयगो, या गिरिराज होयगो।

तब तुलसीदास जी प्रथम तो श्री गोकुल आये। सो श्री गोकुल की शोभा देखि के तुलसीदास जी को मन बहुत ही प्रसन्न भयो। पाछे तुलसीदास जी मन में विचारे जो एसो स्थल छोड़िके नन्ददास कैसें चलेगो ?

तब तुलसीदास जी ने तहाँ पूछ्यो जो एक नन्ददास ब्राह्मण है, सो कहाँ होइगो ? तब काहू ने कही, जो एक नन्ददास तो गुसाईं जी को सेवक भयो है। सो तो श्री गुसाईं जी तो श्रीनाथजी द्वार गये हैं, सो उहाँ ही होयगो।

तब तुलसीदास जी फेर मथुरा में आयके श्री यमुनाजी के दर्शन करे, पाछे वहाँ ते श्री गिरिराज जी गये। सो यहाँ परासोली में तुलसीदास जी नन्ददासकूं मिले।

पाछें तुलसीदास जी ने नन्ददास सों कही जो तुम हमारे संग चलो। सो गाम रुचे तो अयोध्या रहो, पुरी रुचे तो काशी में रहो, पर्वत रुचे तो चित्रकूट में रहो, वन रुचे तो दण्डकारण्य में रहो। ऐसे बड़े-बड़े धाम श्री रामचन्द्र जी ने पवित्र किये हैं।

तब नन्ददास ने उत्तर देयवेकुं ये पद गायो। सो पद—

जो गिरि रुचे तो बसो श्री गोवर्द्धन०

पाछें नन्ददास जी सूरदास जी सों मिलि के श्रीनाथजी के दर्शन करवेकूं गये। तब तुलसीदास हू उनके पाछे-पाछे गये। जब श्रीगोवर्द्धन-नाथजी के दर्शन करे, तब तुलसीदास जी माथो नमायो नहीं। तब नन्ददास जी जानि गये, जो ये श्रीरामचन्द्र जी बिना और दूसरे को नहीं नमें हैं। नन्ददास ने मन में विचार कीनो जो यहाँ और श्री गोकुल में इनकों श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन कराऊं। तब ये श्रीकृष्ण को प्रभाव जानेंगे। पाछे नन्ददास ने श्रीगोवर्द्धननाथ सों बिनती करी। सो दोहा—

कहा कहूँ छवि आज की, भले बने हो नाथ
तुलसी मस्तक तब नमें, धनुष बाण लो हाथ

यह बात सुनिके श्रीनाथजी कों श्री गुसाईं जी की कानते विचार भयो, जो श्री गुसाईं जी के सेवक कहें, सो हमकुँ मान्यो चहिए।

पाछे श्रीगोवर्द्धननाथजी ने श्रीरामचन्द्र जी को रूप धरिके तुलसीदास जी कों दर्शन दिये। तब तुलसीदास जी ने श्रीगोवर्द्धननाथजी कों साष्टांग दंडवत करी।

जब तुलसीदास जी दर्शन करिके बाहर आये, तब नन्ददास श्री गोकुल चले। तब तुलसीदासहू संग संग आये। तब आयके नन्ददास ने श्री गुसाईं जी के दर्शन करि साष्टांग दंडवत करी और तुलसीदास ने दंडवत करी नाहिं।

पाछे नन्ददास कों तुलसीदास जी ने कही जो जैसे दर्शन तुमने वहाँ कराये हैं वैसे ही यहाँ करावो। तब नन्ददास जी ने श्री गुसाईं जी सों विनती करी—ये मेरे भाई तुलसीदास हैं। सो श्रीरामचन्द्र जी बिना और कूं नहीं नमें हैं।

तब श्री गुसाईं जी ने कही जो तुलसीदास जी, बैठो!

ता समे श्री गुसाईं जी के पाचमें पुत्र श्री रघुनाथ जी वहाँ ठाडे हुते, और उन दिनन में श्री रघुनाथ जी को विवाह भयो हुतो। तब श्री गुसाईं जी ने कही जो रामचन्द्र जी! तुमारे सेवक आये हैं, इनको दर्शन देवो। तब रघुनाथलाल जी ने तथा श्री जानकी बहूजी ने स्वरूप धरिके दर्शन दिये। तब तुलसीदास जी ने साष्टाग दंडवत करी।

पाछें तुलसीदास जी दर्शन करिके बहोत प्रसन्न भये। और यह पद गायो। सो पद—

बरनों अवधि श्री गोकुल धाम।
वहाँ सरजू यहाँ यमुना एक ही नाम०

ता पाछे तुलसीदास जी ने श्री गुसाईं जी सों दंडवत करिके कह्यो जो महाराज नन्ददास तो पहले बड़ो विषयी हुतो, सो अब याकों बड़ी अनन्य भक्ति भई है। ताको कारण कहा है?

तब श्री गुसाईं जी ने तुलसीदास जी सों कह्यो जो नन्ददास उत्तम पात्र हुते, याते पुष्टिमाग में आयके प्रवृत्त भये। और अब कसन अवस्था याकों सिद्ध भई है। सो अब वे दृढ़ भये हैं। तब श्री गुसाईं जी के श्रीमुख के वचन सुनिकै तुलसीदास जी प्रसन्न होय श्री गुसाईं जी को दंडवत करिके पाछे आप बिदा होय काशी आये।

सो वे नन्ददास जी श्री गुसाईं जी के ऐसे कृपापात्र भगवदीय हुते। जिनके कहेंते श्रीगोवर्द्धननाथजी कों तथा श्री रघुनाथलाल जी को श्रीरामचन्द्रजी को स्वरूप धरिके दर्शन देने पड़े।

प्रसंग ५

सो एक दिन नन्ददास के मन में एसी आई जो जेसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा किये हैं, तेसे हमहूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें। पाछे नन्ददास ने श्रीमद्भागवत दशम भाषा संपूरण कियो।

तब मथुरा के सब पंडित मिलिके श्री गुसाईं जी सों बिनती कीनी, जो महाराज, हम श्रीभागवत की कथा कहिके निरवाह करत हते, सो तुमारे सेवक नन्ददास जी ने भाषा में श्री भागवत कही है। सो अब हमारी कथा कोई न सुनेगो। तातें अब हमारी जीविका तो गई। सो अब आपके हाथ उपाय है।

तब श्री गुसाईं जी ने नन्ददास को बुलायके कह्यो जो नन्ददास तुमने जो श्रीमद्भागवत भाषा में कीनो है, सो इन ब्राह्मणन की जीविका में हानि होत है। तासों तुम व्रजलीला तो पंचाध्याई ताई की राखो और सब श्रीजमुनाजी में पधराय दीनो।

सो नन्ददास ने श्री गुसाईं जी की आज्ञा प्रमाण मानिकै व्रजलीला ताई (भागवत) राखी, और सब श्रीजमुनाजी में पधराय दीनी।

सो वे नन्ददास जी श्री गुसाईं जी को ऐसे आज्ञाकारी और बड़े कृपापात्र हते।

प्रसंग ६

और एक समे अकबर पातसाह और बीरबल श्री मथुरा जी आये, सो बीरबल श्री गुसाईं जी के दर्शन को आयो। सो श्रीनाथजी द्वार श्री गुसाईं जी पधारे हते। और श्री गिरिधर जी घर हते सो—बीरबल श्री गिरिधर जी के दरशन करिके अकबर पातशाह के पास आये। तब पातशाह ने पूछी—जो बीरबल! तू कहाँ गया था? तब बीरबल ने कह्यो जो दीक्षितजी के दर्शन को श्री गोकुल गया था। सो श्री गुसाईं जी तो श्रीनाथजी के दरशन को श्रीगोवर्द्धन पधारे हैं, और उनके पुत्र श्री गिरिधर जी घर थे, सो उनके दरशन करके आया हूँ।

तब पातसाह ने बीरबल सों कह्यो जो—दिन दो में हम भी श्रीगोवर्द्धन चलेंगे, वहाँ से तुम जाकर दीक्षितजी के दर्शन कर आना।

ता पाछे दिन दोय में अकबर पातसाह के डेरा गोवर्द्धन मानसीगंगा पर भये। तब बीरबल श्रीगोवर्द्धननाथजी के दरशन कों गोपालपुर आयो सो दरशन करिके श्री गुसाईं जी को दंडवत् करिके ता पाछे अपने डेरा आयो।

पाछे नन्ददास ने सुनी जो—अकबर पातसाह के डेरा गोवर्द्धन मानसीगंगा पे भये हैं। सो अकबर पातसाह के एक लोंडी हती। सो वह श्री गुसाईं जी की सेवक हती। ताके ऊपर श्रीगोवर्द्धननाथजी बड़ी कृपा करते। वाकों दर्शन देते।

वा लोंडी सों और नन्ददास सों बड़ी प्रीति हती। सो नन्ददास वा लोंडी सो मिलिने को मानसीगंगा पे आये। सो तहाँ वा लोंडी को ढूंढन लागे। सो वह लोंडी एकांत ठौर में बिलछू पे वृक्षन की लतान की तरें, रसोई करत हती। सो रसोई करिके भोग धरयो हो। तहाँ श्रीगोवर्द्धननाथजी आपु पधारे हुते। सो नन्ददास ता समे गोवर्द्धननाथजी

कों देखे। सो दरशन करिके नन्ददास बहोत ही प्रसन्न भये। और कह्यो जो—याके बड़े भाग्य हैं।

ता पाछे नन्ददास एक वृक्ष की ओट में ठाढ़े रहिके यह कीर्तन गायो। सो पद—

राग तोडी—चित्र सराहत चितवति दुरि मुरि गोपी बहाते सयानी॰ यह कीर्तन तहाँ नन्ददास ने गायो। तब जाने जो—इहाँ नन्ददास आये हैं। तब वा लोंडी ने चारों ओर देख्यो। तब देखे तो एक वृक्ष की ओट में नन्ददास ठाढ़े हैं। तब वा लोंडी ने नन्ददास सों कह्यो, जो तुम ऐसे छिपके क्यों ठाढ़े हो? मेरे पास क्यों नहीं आवत हो?

तब नन्ददास ने कही—जो राजभोग को समो हतो, श्रीगोवर्द्धननाथजी आरोगवे पधारे हते, तातें हों इहाँ ठाढ़ो होय रह्यो।

ता पाछे भोग सराय के अनोसर कराय के कह्यो—जो मैं तुमतें कही नाहीं सकत हों, परि श्रीनाथजी कों महाप्रसाद है, तामहू दूध की सामग्री है। तामें तुमारो मन प्रसन्न होय सो लेउ। काहेतें जो तुम ब्राह्मण हो।

तब नन्ददास ने कह्यो जो अब तो मैं रंचक-रंचक सब सामग्री लेऊँगो। तब उन दोउ जनेन ने प्रसन्नता सों महाप्रसाद लियो। ता पाछे आचमन करिके बेठे। तब वा लोंडी ने नन्ददास सें कह्यो जो अब इहाँ ते कहू न जानो होय तो आछो है। यहाँ जो मानसीगंगा है। यह श्रीगिरिराज प्रभुन की दया तें स्थल प्राप्त भयो है। तातें अब मै काहू देश में न जाउं तो आछो है, और अब सदा तुमारो संग होय तो आछो।

तब नन्ददास ने लोंडी सों कह्यो जो प्रभु ऐसे ही करेंगे। ता पाछे लोंडी ने कह्यो जो अब इन आंखनि सो लौकिक को देखनों नाहीं है।

पाछे नन्ददास रात्रिकों अपने स्थान मानसीगंगा पे जाय रहे। और प्रातःकाल श्रीगोवर्द्धननाथजी के दरशन कों आये, सो गोवर्द्धननाथजी के दर्शन किये। और श्री गुसाईंजी के दर्शन किये।

ता पाछें अकबर पातशाह के पास तानसेन रात्रिकों गायवे आये। सो तहाँ नन्ददास को कियो पद तानसेन ने गायो। सो पद—

राग केदारो—देखो री, नागर नट नृत्यत कालिंदी के तट० × ×
नन्ददास गावत वहाँ निपट निकट।

यह नन्ददास को कीयो पद सुनि के अकबर पातसाह ने तानसेन सों पूछी जो—जिसनें यह पद बनाया है, सो कहाँ है? तब बीरबल ने अबकर पातसाह सों कह्यो जो—साहब! वह तो यहाँ ही है, श्रीनाथजी द्वार में रहता है। बड़ा कवि और भवदीय है।

तब देसाधिपति ने बीरबल सो कह्यों—इसी घड़ी उनको इहाँ बुलावो। तब बीरबल ने पातसाह सों कह्यो जो—साहब, वह तो इस भाँति से तो यहाँ न आवेंगे। मैं कहला कर लिवा लाऊँगा।

ता पाछे दूसरे दिन बीरबल गोपालपुर आये। तब श्री गुसाईंजी के दरशन किये। ता पाछे नन्ददास से बीरबल ने कह्यो जो नन्ददास जी तुमको अकबर बादसाह ने बुलाये हैं। तब नन्ददास ने बीरबल सों कह्यो—मोकों अकबर पातसाह सों कहा प्रयोजन है! मोंकों कछु द्रव्य की चाहना नाहिं। जो—मैं जाऊँ। और मेरे कछु द्रव्य नाहीं जो अकबर पातसाह लेतयोगो। ताते हमारो कहा काम है?

तब बीरबल ने कह्यो जो—तुम न चलोगे तो अकबर पातसाह ही तुमारे पास आवेगो।

तब नन्ददास ने कही जो तुम इहाँ वाको मति लावो। यहाँ भीड़ को काम नाहीं है। तातें मैं सेनआरती पाछे श्री गुसाईं जी सों दंडवत करिके मानसीगंगा आउँगो।

पाछे नन्ददास सेनआरती के दरशन करि श्री गुसाईंजी से दंडवत करिके विदा होय के मानसीगगा आये। सो नन्ददास को देखि पातसाह ने सम्मान करि के बैठाए।

ता पाछें अकबर पातसाह ने नन्ददास सो कह्यो जो तुमने रास को पद बनायो है तामें तुमने कह्यो है जो 'नन्ददास गावे तहाँ निपट निकट'

तो इतनो झूंठ क्यों बोलत हो ! जो तुम कहो जो—कौन भाँति सों निकट आये !

तब नन्ददास ने पातसाह सों कह्यो जो मेरे कहे को तुमकों विश्वास न होयगो । सो तुमारें घर में फ़लानी (रूपमंजरी !) लोंडी है तासों तुम पूछ लेउ, सो वह जानत है ।

तब अकबर पातसाह ने बीरबल कों तो नन्ददास के पास बैठाये, और आप अपने डेरा में जायके वा लोंडी सो पूछी, जो यह रास को पद नन्ददास ने गायो है, सो ताको अभिप्राय कहा है ?

तब यह बचन पातसाह के सुनिके यह लोंडी पछाड़ खाय के गिरि पड़ी, सो देह छूटि गई । सो वह लीला में जायके प्राप्त भई । तब देसाविपति नन्ददास के पास दोरें आये । सो इहाँ आयके देखे तो नन्ददास की हू देह छूटि गई है । सो एउ लीला में जायके प्राप्त भये !

तब अकबर पातसाह कों बड़ो आश्चर्य भयो । तब वाने बीरबल सों पूँछी—जो इन दोउन की देह क्यों छूटि गई । तब बीरबल ने पातशाह से कह्यो जो साहिब इन अपनो धर्म राख्यो । काहे तें यह बात बताँयबे में न आवे, कहिब में न आवे । तासों या बात को तो यही उपाय है ।

ता पाछे अकबर पातसाह अपने डेरान में आयो । ता पाछे यह बात वैष्णवन ने सुनी, सो आयके यह समाचार सब श्रीगुसाईं जी सों कहे, जो, महाराज ! नन्ददास जी ने तो मानसीगंगा पर या रीति सों देह छोड़ी ।

तब श्री गुसाईं जी ने श्रीमुखतें बहोत ही सराहना करी । जो वैष्णव ऐसे ही अपनो धर्म राख्यो चाहिए । जो और के आगे कहनो नाँहि । सो वह नन्ददास जी और वह लोंडी ऐसे भगवदीय हते । सो दोउ जनेन ने अपनो धर्म गोप्य राख्यो ।

सो वह लोंडीहू ऐसी भगवदीय भई और नन्ददास जीहू श्रीगुसाईं जी के ऐसे कृपापात्र भगवदीय हते । जिनके ऊपर श्री गुसाईं जी सदा

प्रसन्न रहते। और अपने स्वरूपानन्द को वैभव दिखायो। तातें उनकी वार्ता कहां ताईं लिखिये ? ता वार्ता को पार ना आवे एसे भगवदीय भये।"

ऊपर की वार्ता से हम नन्ददास के सम्बन्ध में निम्नलिखित निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

प्रसंग १—(१) तुलसीदास और नन्ददास में निकट का सम्बन्ध था। वे भाई थे, कैसे भाई, यह नहीं लिखा। जाति उनकी स्नाढ्य ब्राह्मण थी।

(२) वे बड़े रसिक थे।

(३) तुलसीदास उन्हें बराबर नियन्त्रण में रखते, और खोज-खबर लेते रहते, इसलिए ये आयु में उनसे छोटे अवश्य रहे होंगे।

(४) उनका स्वभाव बड़ा उच्छृंखल और हठी था। तुलसी के समझाने पर भी वे अयोध्या नहीं ठहरे, और जब संघ मथुरा ठहर गये, तो अकेले ही आगे चल पड़े। क्षत्राणी की वार्ता से भी यही सिद्ध होता है। उन्हें लोक-लज्जा थी ही नहीं।

(५) विट्ठलनाथ के प्रथम दर्शन का ही उनपर चमत्कारी प्रभाव पड़ा और वे उन्हीं द्वारा पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित हुए।

प्रसंग २—वे शीघ्र ही गुसाईं जी के कृपापात्र हो गये। उन्होंने उन्हें सम्प्रदाय के भेदों से अवगत कराया और विशेष शिक्षा के लिए सूरदास के पास रख दिया। उनके पास ये छः महीने रहे।

प्रसंग ३—तुलसीदास अनन्य कट्टर रामभक्त थे। उन्होंने नन्ददास को कृष्णभक्ति सम्प्रदाय में दीक्षा लेने से विरत करना चाहा, परन्तु सफल नहीं हुए।

प्रसंग ४—तुलसीदास गोकुल आये। वहाँ सूरदास और विट्ठलनाथ ने उन्हें राम-कृष्ण के अभेदत्व से परिचित कराया।

प्रसंग ५—तुलसीदास के अनुकरण में नन्ददास ने भागवत की भाषा की, परन्तु गुसाईं जी के कहने से ब्रजलीला पर्यन्त रखकर शेष जलमग्न कर दी।

प्रसंग ६—उनकी मृत्यु अकबर और बीरबल के सामने मानसीगंगा पर हुई।

डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'अष्टछाप' में छपी नन्ददास की वार्ता और इस वार्ता की तुलना श्री दीनदयालु गुप्त ने इस प्रकार की है—

छपी वार्ता से ये सूचनाएँ अधिक हैं—

१—नन्ददास और तुलसीदास सनाढ्य ब्राह्मण थे।

२—वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के पहले नन्ददास भी तुलसीदास की तरह राम के उपासक थे। और श्री रामानन्द जी के सम्प्रदाय के शिष्य थे।

३—नन्ददास की वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले लौकिक विषयों में बहुत आसक्ति थी।

४—नन्ददास जी वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले ही पद-रचना करते थे।

५—नन्ददास ने अपना सम्पूर्ण भागवत भाषा ग्रन्थ यमुना में नहीं बहाया। रासलीला तक का दशमस्कंध रख लिया।

६—उस वार्ता में नन्ददास की भक्ति की अनन्यता का अधिक परिचय मिलता है।

छपी वार्ता के छूटे हुए प्रसंग ये हैं—

१—तुलसीदास के सामने कृष्ण के धनुर्धारी वेश-धारण की कथा।

२—विठ्ठलनाथ जी के पुत्र रघुनाथ जी तथा रघुनाथ जी की स्त्री जानकी का राम-जानकी के रूप में तुलसीदास के दर्शन देने की कथा।"

(हिन्दुस्तानी, जुलाई १६४०, पृ० २६४)

सं० १७५८ की वार्ता में रूपमंजरी की कथा नन्ददास की कथा से अलग लिखी गई है। छपी वार्ता के पृष्ठ ४६१ पर यह कथा है। इसका भावार्थ इस प्रकार है—

"रूपमंजरी हिन्दूराज की बेटी थी, और अकबर बादशाह को ब्याही

थी। वह बहुत सुन्दरी थी, परन्तु अकबर को अपना अंग स्पर्श नहीं करने देती थी। वह कृष्ण की भक्त थी और वह नित्य नन्ददास जी से मिलने आया करती थी। एक बार किसी गायक ने नन्ददास का एक पद अकबर के सामने सुनाया। अकबर बादशाह उस पर मुग्ध हो गये, और नन्ददास से मिलने गोपालपुर के निकट मानसीगंगा पर गये। उस स्थान पर नन्ददास जी बादशाह से मिले। बादशाह ने पूछा कि तुमने अमुक पद प्रभु के निकट बैठकर कैसे गाया, उसे फिर सुनाओ। नन्ददास जी ने विचार किया कि अन्यमार्गीय से कैसे बात की जाय। नन्ददास जी ने ऊपर को देखा और देह छोड़ दी। बादशाह के साथ रूपमंजरी भी थी। राजा को बड़ी खिन्नता हुई। रूपमंजरी के पास आया और सब वृतान्त सुनाया। रूपमंजरी ने जब नन्ददास की मृत्यु के बारे में सुना, तब उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने भी वहीं अपनी देह छोड़ दी।" (वही पृ० २६५)

श्री गुसाईं जी की गद्य वार्ता से भी नन्ददास और रूपमंजरी में परस्पर कुछ सम्बन्ध जान पड़ता है।

इन वार्ता-ग्रन्थों को हिन्दी के अधिकारी व्यक्तियों ने सदैव सतर्कता से देखा है—कहीं कहीं 'अति' भी कर दी है। "अष्टछाप" की भूमिका में १९२९ में ही डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इन ग्रन्थों में जिस सतर्कता का व्यवहार किया है, वह इस उद्धरण से स्पष्ट है—

"प्रस्तुत पुस्तक गोकुलनाथ जी के नाम से प्रचलित ८४ वैष्णवन की वार्ता तथा २५२ वैष्णवन की वार्ता शीर्षक ग्रन्थों में अष्टछाप कवियों की जीवनी का संग्रह मात्र है" (वक्तव्य पृ० ८) यद्यपि संग्रह के मुख्य पृष्ठ पर "गोकुलनाथ कृत" छपा है। १९३२ ई० में 'हिन्दुस्तानी' में लेख लिख कर ('क्या दो सौ बावन वार्ता गोकुलनाथ कृत है ?' अप्रैल १९३२) उन्होंने इस संदेह को पुष्ट किया है। उनके तर्क ये हैं—

१ "इस वार्ता (२५२ वार्ता) में अनेक स्थलों पर गोकुलनाथ

का नाम इस तरह पर आया है जिस तरह कोई भी लेखक अपना नाम नहीं लिख सकता। इन उल्लेखों से स्पष्ट विदित होता है कि कोई तीसरा व्यक्ति गोकुलनाथ के सम्बन्ध में लिख रहा है।"

२ ग्रन्थ में औरंगजेब के मन्दिर तुड़वाने का वर्णन है जो १६६६ सन् से पहले की बात नहीं हो सकती। गोकुलनाथ जी का समय १५५१ ई० से १६४७ ई० तक है। इस प्रकार गोकुलनाथ जी बाद की घटना से परिचित नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त एक और स्थान पर उसमें १६६६ ई० की घटना तक का उल्लेख है।

३ '८४' और '२५२' "वार्ताओं के अनेक रूपों में भी बहुत अन्तर है।" "एक ही व्यक्ति अपनी दो रचनाओं में व्याकरण के इन छोटे-छोटे रूपों में इस तरह का भेद नहीं कर सकता।" डा० माताप्रसाद गुप्त अपने ग्रन्थ तुलसीदास (प्र० १६४२) में कई नये सदेह उपस्थित करते हैं।

१ "वार्ता में पुष्टिमार्ग के लिए ज्ञाताज्ञात रूप में कुछ झुकाव जान पड़ता है।"

२ उसमें कुछ प्रामाणिक घटनाएँ ग़लत लिखी गई हैं जैसे "वार्ता" के अनुसार नरवरगढ़ के राजा आसकरन गोसाईं विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे किन्तु नाभादास जी का वचन है कि वह कीलदेव के शिष्य थे" जो "विशेष प्रामाणिक माना जाना चाहिए।"

इसलिए (१६४१ ई०) में प्रकाशित 'प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग' में वार्ता की प्रामाणिकता का विशेष अध्ययन उपस्थित किया है। इसके अनुसार

१ वार्ताएँ वास्तव में मौखिक प्रवचन हैं।

२ आजकल जो वार्ताएँ उपलब्ध हैं, उनके मूल रूप दो मिलते हैं—एक साधारण वार्ता, दूसरी भावना वाली वार्ता, जिनमें एक प्रकार से वार्ता-कथाओं की साम्प्रदायिक दृष्टि से टीका कर दी गई है।

अधिकांश उपलब्ध वार्ता-प्रतियाँ भावना वाली हैं, यद्यपि डॉ० वर्मा द्वारा सम्पादित संस्करण पहले प्रकार की वार्ता पर आधारित था।

३ "मूल वार्ताओं के मौखिक प्रवचन का समय १६४२ सं० से १६४५ सं० तक निर्धारित होता है जब कि गुसाईं जी का तिरोधान हो जाता है और श्री गोकुलनाथ जी की उत्कृष्टता का समय आता है।"

४ सं० १६९७ की वार्ता की एक हस्तलिखित प्रति काँकरोली में उपलब्ध है, अतः कम से कम सं० १६९७ तक वार्ता की पुस्तकों का लिपिबद्ध संस्करण हो चुका था।"

५ 'वार्ता' के तीन संस्करण हुए हैं। "प्रथम संस्करण श्री गोकुलनाथ जी के कथा-प्रवचन के मनन का मूल रूप है जो उनके हास्य-प्रसंगों के समान वचनामृत रूप में प्राप्त होता है। न तो इसमें ८४ और २५२ का वर्गीकरण ही हुआ है और न सभी वैष्णवों की वार्ताएँ ही इसमें लिखी गई हैं। इसे हम संग्रहात्मक वार्ता-साहित्य कह सकते हैं।" "इनका समय सं० १३४५ से सं० १६९० तक माना जाता है।" "द्वितीय संस्करण श्री गोकुलनाथ जी के समय और तत्त्वावधान में श्री हरिराय जी के द्वारा हुआ। इस समय वार्ताओं का वर्गीकरण और संकलन करते हुए 'चौरासी' तथा दो सौ बावन वैष्णवों की संख्या का नाम रखा गया। इस समय की वार्ताओं में प्रसंग आने पर "श्री गोकुलनाथ जी" के नाम का निर्देश होने लगा, जो श्री हरिराय जी ने अपनी ओर से सन्निविष्ठ किया है।"

"इस संस्करण का समय सं० १६९४ से सं० १७३५ तक माना जा सकता है।

"तृतीय संस्करण— श्री गोकुलनाथ जी के अनन्तर और श्री हरिराय के समय इसका संकलन हुआ। इस समय वार्ता में ऐसे आवश्यक प्रसंग वाक्य भी सम्मिलित हो गये हैं, जिनके बिना प्रसंग की अपूर्णता विदित थी। अथवा जो अधिक स्पष्टीकरण के लिए उपयुक्त जँचते

थे। इसी समय श्री हरिराय जी ने अपना 'भावप्रकाश' नामक टिप्पण लिखा, जो वार्ता के हार्द को विशेषता के साथ समझने में समर्थ है।" "इस संस्करण का समय सं० १७३५ के अनन्तर सं० १७८० तक आता है।"

६ "भावप्रकाश" की रचना सं० १७३५ के आस-पास हुई। वार्ता के बाद के संस्करण में इसकी कितनी ही बातें मिला ली गई होंगी।

ऊपर की विवेचना से उन संदेहों का निराकरण हो जाता है जो डाक्टर श्री धीरेन्द्र वर्मा ने वार्ता के सम्बन्ध में उठाये हैं। डा० माताप्रसाद का पहला तर्क तो कोई तर्क नहीं है। वार्ता निश्चय ही साम्प्रदायिक ग्रन्थ है, ऐतिहासिक ग्रन्थ के लिये उसका प्रमाण सतर्कता से ही बरता जाना चाहिए। हाँ, दूसरा तर्क अवश्य दृढ़ है। परन्तु यदि हम प्रकाशित "कीर्तन-संग्रहों" को ध्यान से पढ़ें, तो हमें 'आसकरन जी' का एक बड़ा विपुल कृष्ण-पद-साहित्य मिलेगा। हो सकता है, वे पहले नीलदेव के ही शिष्य रहे हैं, परन्तु बाद में वे कृष्ण-सम्प्रदाय (वल्लभ-कुल) में दीक्षित हो गये हों। कम से कम उनका पद-साहित्य तो उनकी कृष्ण भक्ति का ही प्रमाण उपस्थित करता है। वह समय कृष्ण-भक्ति के अभ्युत्थान का था, नन्ददास जैसे रामानन्दी राम-भक्त जब वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये, तो फिर क्या यह सम्भव नहीं है कि आसकरन भी पहले राम-भक्त रहे हों, फिर वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये हों!

तीसरी श्रेणी के प्रमाण ग्रन्थ सोरों में प्राप्त नवीन सामग्री हैं। ये कई हैं—

१—रामचरितमानस की हस्तलिखित प्रति सोरों १६४३,

२—वर्षफल, लेखक कृष्णदास, सं० १६६७

३—सूकरक्षेत्र-महात्म्य, लेखक, वही सं० १६५७

४—भ्रमरगीत की हस्तलिपि, लेखक ब्रजचन्द्र, सं० १६७२

५—रत्नावली दोहा-संग्रह ।

६—रत्नावली-चरित, लेखक मुरलीधर, सं० १८२९

अब हम अलग-अलग इन पर विचार करेंगे ।

सोरों में प्राप्त श्री रामचरितमानस की हस्तलिपि प्रतियों में बालकांड और अरण्यकाड की पुष्पिकाएँ इस प्रकार हैं—

"इति श्री रामचरितमानसे सकल कलिकलुष विध्वसने विमल वैराग्य सम्पादिनी नाम १ ....वासी नन्ददास-पुत्र कृष्णदास हेत लिखी रघुनाथ ने काशीपुरी में।"

(बालकाड की पुष्पिका)

"इति श्री रामायने सकल कलिकलुष विध्वसने विमल वैराग्य सम्पादिनी बट सुजन सम्वादे रामवन चरित्र बर्ननो नाम द्वितयो सोपान अरण्यकाड समाप्त ।। ३ ।। श्री तुलसीदास गुरु की आर्ग्या सों उनके भ्राता सुत कृष्णदास सोरों चेत्र निवासी हेत लिखित लछिमनदास काशीपुरी जी मध्ये सम्वत् १६४३ आषाढ़ सुदी ४ सुक्रे इति ।।"

(अरण्यकांड की पुष्पिका)

'वर्षफल' का आरम्भ इस प्रकार है—

श्रीगणेशाय नमः ।। अथ वर्षफल लिख्यते । कवित्त । गनपति गिरीस गंग गौरी 'गुरु गीरवान गोपवेस गोकुलेस गोपी गुन गाइ के भूमि देव देव दिविगाम धाम देवी देव तात मात पादकंज मंजु सरिस नाइ से सूर सोम भौम सौमदेव गुरु दैत्य गुरु शुक्र शनि राहु केतु बटे पत्ते लाइ के बालबोध आस कविदास दास कृष्णदास गावतु हौं वर्षफल वर्षग्रंथ ध्याइ के ।

अथ सूर्यफल ।। दोहा ।।

वर्ष लगन रवि बस पितरुज विवाह तिय रोग
कृष्ण चित्त-चिन्ताकुलित करत हरत सुष भोग ।। १ ।।
तात अनुज चन्द्रहास बुधवर निरदेसहि वारि ।
लिख्यो जथामति वर्षफल बालबोध संचारि ।। २ ।।

अन्त इस प्रकार है—

कीरति की मूरति जहाँ राजै भगीरथ की
तीरथ वराह भूमि वेदनु जु गाई है
जाही धाम रामपुर स्याम सर कीनो तात
स्यामायन स्यामपुर बास सुषदाई है
सुकल विप्रवश मे विग्य तहाँ जीवाराम
तासु पुत्र नन्ददास कीरति कवि पाई है
तासु सुत हों कृष्णदास वर्षफल भाषा रच्यौ
चूक होई सोधे मम जानि लघुताई है
सौरह सौ सतामनि विक्रम के माँझ भई
अति कोप दृष्टि विस्व के विधाता की
बीतत अषाढ़ बाढ़ लाइ. बढ़ि देवधुन
बूढ़ी गग जन्मभूमि रत्नावली माता की
नारी नर बूढ़े कछु स स बड़ भाग गहे
चिन्ह मिटे बदरी के दुखद कथा ताकी
अजु नभ कृष्ण मास तेरसि सनि कृष्णदास
वर्षफल पूरयौ भई दया बोध दाता की ॥ १ ॥

इति श्री कवि कृष्णदास विरचितम वर्षफलम् सम्पूर्ण सम्वत् १६७२ मार्गसिर कृष्ण तृतिया ३ गुरुवासरे सहसवान नगरे ॥ शुभम् ॥ शुभम् ॥

सूकर क्षेत्र माहात्म्य के आरम्भ में इस प्रकार है—

श्री गणेशाय नमः । ॐ नमो भगवते वराहाय ॥ अथ कृष्णदास कृत सूकर क्षेत्र महात्म्या लिख्यते सोरठा । गनपति गिरि गिरीश गिरिजा गंग॥गुरुचरन ॥ बन्दहु पुनि जगदीश छवि वराह महि उद्धरन ॥ बन्दहु तुलसीदास पितु बड़भ्राता पद जलज ॥ जिन निज बुद्धि विलास रामचरितमानस रच्यौ ॥ सानुज श्री नन्ददास पितु की बन्दहु चरन रज ।

कीनो सुजस प्रकास रासपंचअध्याय मनि ।। बन्दहु चरन जल जात सुमिरि लहहि तिय सुरथली ।। सकल वंस दुजमूल पिवरन पद सरसिज नमहूँ ।। रहहिं सदा अनुकूल कृष्णदास निज असंगान"

ग्रन्थ की पुष्पिका इस प्रकार है—

लेखक पाठक्योः शुभंभूयात् ।। सम्वत् १८५० मिती कातिक वदी ११ एकादशी बुधवासरे। लिखित सिवसहाय कायस्थ सोरों मध्ये ।।श्री।। ।।श्री।। ।।श्री।। ।।श्री।। ।।श्री।। ।।श्री।। अथ मुरलीधर कृत छप्पै लिख्यते ।। जय जय आदि बराह क्षेत्र तपभूमि सुहावनि......... इति छप्पै सम्पूर्णम् ।। कृष्णदास बंसावली.........नन्ददास सुत हों भयो कृष्णदास मतिमन्द ।। चन्द्रदास बुधसुत अहैं चिरजीवी ब्रजचन्द्र ।।१०।।इति।। इति.........श्री भाषा शूकर क्षेत्र महात्म्य सम्पूर्णम् सम्वत् १८०६ गिरिवतम् पं० मुरलीधरेण

'भ्रमरगीत' वास्तव में नन्ददास की भ्रमरगीत है। उसकी पुष्पिका इस प्रकार है—

भ्रमरगीत सम्पूरनम्.........नन्ददास भ्राता तुलसीदास को स्याम-सरवासी सोरों जी मध्ये लिखित कृष्णदास बेटा नन्ददास नाती जीवाराम के शुक्ल श्यामपुरी सनाढ्य.........भरद्वाज गोती सच्चीदानन्द के वेटा रामायन के करता तुलसीदास दूजे.........टा।नन्ददास चन्द्रदास तिनके वेटा कृष्णदास के बेटा ब्रजचन्द्र पोथी लिखी माघ ....। जे चन्द्रवार सम्वत् १६७८ शुभम्

न कियौ सौ यह लीला गाइ पाइ रसपु बना बन्दो तुलसीदास के चरना सानुज नन्ददास दुखहरना जिन पितु आत्माराम सुहाए जिन सुत राम कृष्ण जस गाए (ने) ये सुवन मम गुरु प्रवीना दास कृष्ण मम नाम सीचोना शुक्ल सनाढ्य तेज गुणरासी धर्मधुरीण श्यामसर-वासी बालकृष्ण में उनकर दा (सा) (सू) कर क्षेत्र जान मम वासा।

'दोहा रत्नावली' में जो तुलसीदास की पत्नी रत्नावली पाठक (सं०—१६५१) के दोहों का संग्रह कहा जाता है, एक दोहा ऐसा भी है जिससे नन्ददास और तुलसीदास के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है—

मोहि दीन्हों संदेश पिय अनुज नन्द के हाथ
रतन समुझि जनि पृथक मोहि जो सुमरत रघुनाथ

पं० मुरलीधर का 'रतनावली चरित' अत्यन्त प्राचीन प्रमाण नहीं है, फिर भी उससे महत्त्वपूर्ण प्रमाणों की सत्यता सिद्ध होती है। उसमें नन्ददास का उल्लेख कई जगह है—

तबहि पीत इक दई आस। गुरु नृसिंह के जाउ पास
स्मारत वैष्णव सो पुनीत। सकल वेद आगम अधीत
चक्रतीर्थ ढिंग पाठशाल। तहीं पढ़ावत विपुल बाल
तहाँ रामपुर के सनाढ्य। सुकुल वंशधर द्वै गुनाढ्य
तुलसीदास अरु नन्ददास। पढ़त करत विद्या-विलास
एक पितामहँ पौत्र दोउ। चन्द्रहास लघु अपर सोउ
तुलसी आत्मारामपूत। उदर हुलासों के प्रसूत
गये दोउ तें अमर लोक। दादी पोतहि करि सशोक
बसत जोग मारग समीप। विप्रवंश कर दिव्य दीप

एक दूसरे स्थान पर इस प्रकार लिखते हैं—

नन्ददास और चन्द्रदास। रहहि रामपुर मातु पास
दम्पति बसि बाराह धाम। लहत मोदु आठहु याम

पं० रामवल्लभ मिश्र (पं० मुरलीधर चतुर्वेदी के शिष्य) के हाथ की लिखी 'रत्नावली चरित' की प्रति में मुरलीधर के कुछ छप्पे भी मिलते हैं। एक छप्पे इस प्रकार है—

एक पितामह सदन दोउ जनमें बुधिरासी
दोउ एकहि गुरु नृसिंह बुध्य अन्ते वासी

तुलसीदास नन्ददास मते द्वै मुरली धारे।
एक मते सियाराम एक घनश्याम पुकारे
एक बसे सो रामपुर एक श्यामपुर महँ बसै।
एक राम गाथा लिखी एक भागवद् पद कहै

इसी प्रति में कृष्णदास की वंशावली भी लगी हुई है जो इस प्रकार है—

सेत वारह समीप शुचि गाम रामपुर एक।
तहँ पढ़ित पंडित बसत सुकुलवंश सविवेक.
पंडित नारायण सुकुल तासु पुरुष परधान।
धारयो सत्य सनाढ्य पद है तप वेद निधान
शास्त्र शास्त्र विद्या कुशल मे गुरु द्रोण समान।
ब्रह्मरन्ध्र निज भेदि जिन पायो पद निर्वान
तेहि सुत गुरु ज्ञानी भये भए पिता अनुहारि।
पंडित श्रीधर शेषवर सनक स्नातक चारि
भये सनातन देव सुत पंडित परमानन्द।
व्यास सरिस वक्ता तनय जासु सच्चिदानन्द
तेहि सुत आत्माराम बुध निगमागम परवीन।
लघु सुत जीवाराम ये पंडित धरम धुरीन
पुत्र आत्माराम के पंडित तुलसीदास।
तिमि सुत जीवाराम के नन्ददास चन्दहास
मथि मथि वेद पुरान सब-काव्य शास्त्र इतिहास।
रामचरितमानस रच्यौ पंडित तुलसीदास
वल्लभ-कुल वल्लभ भये तासु अनुज नन्ददास।
धरि वल्लभ आचार जिन रच्यौ भागवतरास
नन्ददास सुतहीं भयो कृष्णदास मतिमंद।
चन्ददास बुध सुत अहै चिरजीवी ब्रजचन्द

इस सारी सामग्री में लगभग एकसूत्रता है, कहीं विशेष विरोध नहीं है। जिन बातों का पता इमें इससे लगता है, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) तुलसीदास और नन्ददास चचेरे भाई थे। उनका वंश-वृक्ष इस प्रकार है—
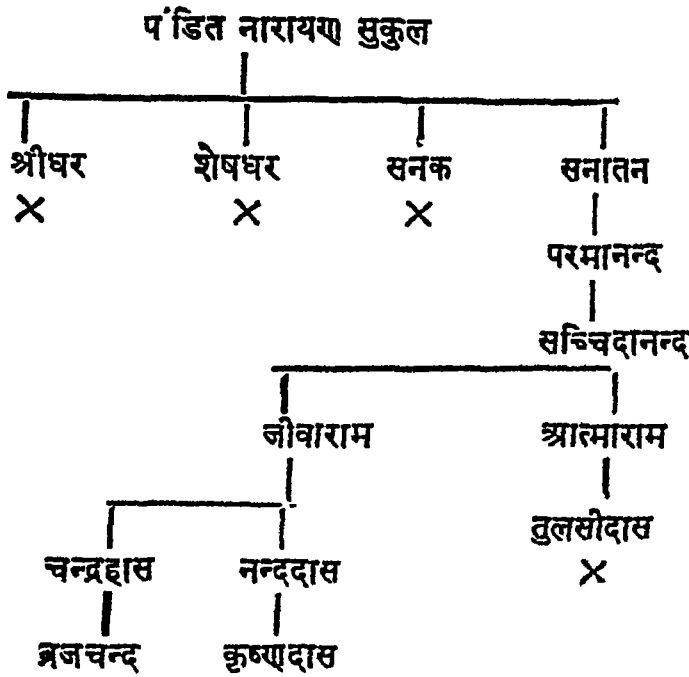
इन्हीं कृष्णचन्द्र ने "वर्षफल" और "वंशावली" की रचना की। ब्रजचन्द्र का नाम उन्होंने जिस स्नेह से लिया है, उससे पता चलता है कि उनके समय तक कुटुम्ब सम्मिलित रहता था और आपस में सौहार्दय था। इन्हीं कृष्णदास के लिए किसी रघुनाथ ने काशी में १६४१ शके में रामचरितमानस की प्रति लिखी (सम्भवतः उनके चाचा तुलसीदास ने यह प्रति लिखाकर दी होगी।)। अरण्यकांड की पुष्पिका में तुलसी की आज्ञा का स्पष्ट उल्लेख है। लेखक कोई

लछिमनदास हैं। संवत् १६४३ है। इससे जान पड़ता है कि कृष्णदास कम से कम २-२½ वर्ष तुलसीदास के पास काशी अवश्य रहे होंगे। कदाचित् कृष्णदास पिता की मृत्यु का समाचार लेकर सांत्वना के लिए तुलसीदास के पास गये हों।

(२) नन्ददास की जन्मभूमि रामपुर ग्राम थी जो सूकरक्षेत्र (सोरों) के पास है। नन्ददास ने इस ग्राम का नाम रामपुर से बदल कर श्यामपुर रख दिया। उन्होंने यहाँ 'श्यामसर' नाम का एक तालाब भी खुदवाया। नन्ददास ने यह नाम कब बदला होगा, इसका आभास वार्ता की कथा से मिलता है। जब कृष्णदास सूरदास के पास से रामपुर लौटे होंगे, तब ही उन्होंने ऐसा किया होगा क्योंकि पहले तो वे स्पष्टतया रामभक्त थे। उन्होंने अपने पुत्र का नाम भी कृष्णदास रखा है। इससे यह स्पष्ट है कि यह नाम भी शरणागति के बाद रखा होगा, यह भी अनुमान हो सकता है।

(३) नन्ददास माता-पिता के मरने के बाद दादी के पास सोरों योगमार्ग चले आए। वहाँ तुलसीदास के समय के रामनन्दी गुरु नृसिंह से सस्कृत आदि का अध्ययन करते रहे। इसके बाद तुलसीदास की शादी होने पर वे माता के पास रामपुर चले गये जहाँ वे अपने भाई चन्द्रहास के साथ रहने लगे।

(४) कृष्णदास ने अपनी माता का नाम कमला लिखा है। स्पष्ट है नन्ददास ने विवाह किया था, और यह उनकी पत्नी का नाम था।

(५) तुलसीदास ने नन्ददास के हाथ अपनी पत्नी रत्नावली को एक संदेश भेजा कि मैं राम का स्मरण करता हूँ, तू मुझे अपने से अलग मत जान।

यह सामग्री वार्ता की सामग्री को पुष्ट करती है। वास्तव में, वार्ता में 'दीक्षा' के बाद का ही वृतान्त है। कवि के प्रारम्भिक जीवन के विषय में हम उससे कुछ नहीं जानते, यद्यपि तुलसीदास के साथ उसका

भ्रातृत्व उसमें भी प्रकाश्य है। तुलसीदास ने नन्ददास के हाथ पत्नी को संदेश भेजा, यह बात 'वार्ता' की घटनाओं के अनुकूल नहीं पड़ती, क्योंकि नन्ददास तो काशी में तुलसीदास के पास से चलकर सीधे विट्ठलेश्वर के पास पहुँचे थे और वहाँ पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो गये थे। परन्तु नवीन सामग्री (हरीराय की भावना वाली वार्ता १६६६) से यह स्पष्ट हो गया है कि विट्ठलेश्वर के पास ६-७ महीने या लगभग एक वर्ष रह कर नन्ददास सूरदास के आग्रह से रामपुर चले आए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने रत्नावली को काशी का वृतान्त सुनाया होगा और स्मृति के आधार पर तुलसीदास का संदेश कहा हो।

इस सारी सामग्री को प्रामाणिक सिद्ध नहीं किया गया है। वास्तव में इसकी अभी विस्तृत और अच्छी परीक्षा भी नहीं की गई है। वैसे विद्वानों के दो दल हैं, एक रामनरेश त्रिपाठी, हरिशंकर शर्मा, दीनदयाल गुप्त, और कांकरोली से सम्बन्धित विद्वान जो 'वार्ता' से मिलती-जुलती होने के कारण इस सामग्री को प्रामाणिक मानते हैं। दूसरी श्रेणी के विद्वान डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने ग्रन्थ 'तुलसीदास' में इस सामग्री की विस्तृत वहिरंग और अंतरंग परीक्षा उपस्थित की है (दे० तुलसीदास पृ० ८०-६५)। वहिरंग परीक्षा में उन्होंने लगभग प्रत्येक सामग्री की प्रामाणिकता पर सन्देह उपस्थित किया है। यह परीक्षा कहाँ तक निर्णयात्मक है, यह केवल उसी समय निश्चय हो सकता है जब अन्य विद्वान भी उसकी परीक्षा कर लें और प्राचीन पोथियों के विशेषज्ञ कागज, रोशनाई, लेखन-पद्धति आदि की विस्तृत परीक्षा द्वारा किसी एक निर्णय पर पहुँच जायें। ऐसे निर्णय के अभाव में कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, अंतरंग की जो परीक्षा डा० माताप्रसाद गुप्त ने की है, वह अवश्य ध्यान देने योग्य है। इस अंतरंग परीक्षा का आधार केवल एक पुस्तक (पोथी) पं० मुरलीधर चतुर्वेदी की 'रत्नावली चरित' है जो स० १८२६ की रचना है। इसमें तुलसीदास के जीवन-सम्बन्धी तीन तिथियाँ मिलती हैं—विवाह-तिथि

(१६१०), द्विरागमन तिथि (१६१६), और गृहत्याग-तिथि (१६२७)। वे १६१२-१६२७ तक के १५ वर्षों के कवि जीवन के सम्बन्ध में शंका उठाते हैं—

१—मैंने कवि की रचनाओं की तिथियाँ निर्धारित करने का जो प्रयत्न किया है उसमें मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि उपर्युक्त पन्द्रह वर्षों के भीतर कवि ने चार ग्रन्थों की रचना की होगी; 'रामललानहछू' 'जानकी मगल' 'रामाज्ञाप्रश्न' और 'वैराग्य संदीपनी' इन चार ग्रन्थों में से केवल वैराग्य संदीपनी की प्रामाणिकता के विषय में कुछ सन्देह है। "सोरों की किसी भी सामग्री में इन तीन में से किसी भी रचना का उल्लेख नहीं होता है।"

२—'मानस' ऐसी प्रशस्त और प्रौढ़ रचना के लिए उसकी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने और शैली में अभ्यस्त होने में कुल चार ही वर्ष—या कदाचित उससे कम लगे होंगे, क्योंकि गृहत्याग की तिथि सं० १६२७ कही गई है, और वह भी सोरोंपक्ष वालों के कथनानुसार—इस पर सहसा विश्वास नहीं होता।

३—"रामाज्ञाप्रश्न" (सं० १६२७) में कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो इस सामग्री की प्रामाणिकता पर अविश्वास प्रगट करते हैं।

(१) रामाज्ञाप्रश्न की रचना काशी-निवासी गंगाराम ज्योतिषी के लिए हुई—काशी में ही। इसकी भाषा भी अवधी है, अतः यह अवधी प्रान्त या काशी में ही रचा गया होगा। पर काशी-निवास या या काशी-यात्रा तक का कोई उल्लेख सोरों स० १६२५ तक की जीवन सामग्री में नहीं होता।

(२) चित्रकूट के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख रामाज्ञाप्रश्न में आते हैं। उनसे कवि के बार-बार चित्रकूट-सेवन का आग्रह स्पष्ट है, अतः कवि इन दोहों की रचना के पूर्व कई बार चित्रकूट गया होगा। पर गृह-त्याग के पूर्व किसी भी ऐसी यात्रा का उल्लेख सोरों वाली सामग्री

में नहीं होता। इसके विपरीत सं० १६२२ से सं० १६२७ तक निरंतर विषयोन्मुख रहता है।"

(३) रामाशाप्रश्न के अध्ययन से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि उसकी रचना-तिथि (सं० १६२१) के पूर्व ही उन्होंने अपने जीवन की धारा बदल दी थी।

परन्तु इस सारी समीक्षा के बाद भी वह इस नवीन सामग्री की संमोहन शक्ति से प्रभावित ही हो गये हैं और उसके आधार पर कवि के प्रारम्भिक जीवन को अपनी पुस्तक में स्थान देते हैं यद्यपि अन्त में यह लिखना भी नहीं भूले हैं—

"हमें कितनी प्रसन्नता होती यदि इस संपन्न और रोचक कथा को हम बिना किसी खटके के महाकवि के जीवन-वृत्त में स्थान दे सकते।"

डा० माताप्रसाद के संदेहों का कुछ निराकरण कांकरोली द्वारा प्राप्त 'अष्टछाप' के अध्ययन से हो सकता है। उससे यह स्पष्ट है कि नन्ददास १६०७ में वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए जब वे सूरदास के पास गये, जिन्होंने उनके लिए साहित्य लहरी की रचना की। इससे एक वर्ष पहले १६०६ में वे अवश्य काशी में थे जहाँ तुलसीदास भी थे। इससे स्पष्ट है कि तुलसीदास 'रामाशाप्रश्न' की रचना (१६२१) से बहुत पहले ही काशी पहुँच गये थे और यदि यह सत्य है तो रामचरितमानस की रचना (सं० १६३१) तक उन्होंने अवधी भाषा का अच्छा अध्ययन कर लिया होगा और उसमें छोटे-छोटे वे तीन-चार ग्रन्थ भी रच चुके होंगे जिन्हें डा० गुप्त तुलसीदास की कृति मानते हैं। तुलसीदास का जन्म सम्वत् १५८९ है (दे० तुलसीदास, पृ० ११० १११)। इस प्रकार १६०६ के काशीवास के समय तुलसी की आयु १६ वर्ष की रही होगी। हो सकता है तुलसीदास काशी में पौराणिक वृत्ति करने गये हों। इसके अनन्तर १६१२ सं० में या पहले वे अपनी जन्म-भूमि लौट आए हों और बाद में कुछ लम्बे कालों के लिए

अयोध्या, काशी, चित्रकूट कथावृति करते रहे हों। धीरे-धीरे वैराग्य-वृत्ति जमने पर उन्होंने सम्वत् १६२१ में रामाज्ञाप्रश्न और वैराग्य संदीपनी की रचना की होगी। 'वार्ता' के अध्ययन से पता चलता है कि वे १६२४ में ब्रज आए। तब तक उन्होंने रामचरितमानस की रचना अवश्य नहीं की थी, परन्तु प्रसिद्ध मर्यादावादी रामभक्त अवश्य थे। बाद को १६२७ में पत्नी के व्यङ्ग-वचनों से उन्हें एकाएक वैराग्य दृढ़ हो गया हो और वे काशी चले गये हों, जहाँ उन्होंने 'रामचरितमानस' (सं० १६३१) लिखा और रामभक्ति का प्रचार किया।

आधुनिककाल में नन्ददास के सम्बन्ध में विशेष खोज हुई है। परन्तु इस खोज को शुरू हुए अभी अधिक दिन नहीं हुए। शिवसिंह सरोज (शिवसिंह सेंगर) में नन्ददास का कोई वृतान्त नहीं दिया गया है। केवल छोटा-सा नोट है—"नन्ददास ब्राह्मण रामपुर-निवासी विट्ठलनाथ के शिष्य। सं १६८५ में उदय। इनकी गणना अष्टछाप में की गई है।"

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने उत्तर भक्तमाल छप्पय २० में नन्ददास के तुलसीदास के साथ भ्रातृत्व का पहली बार उल्लेख किया है—

तुलसीदास के अनुज सदा विट्ठल पथचारी
अंतरंग हरि सखा, नित्य जेहि प्रिय गिरिधारी
भाषा में भागवत रची अति सरस सुहाई
गुरु आगे द्विज कथन सुनत जल माहि डुबाई
पंचाध्यायी हठि करि राखी, तब गुरुवर द्विज भयहरत
श्री नन्ददास रस-रास-रत, प्रान तज्यो सुधि सो करत

इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु के जीवन-काल (१८५०-१८८५ में इस प्रकार की जन-श्रुति पूर्व में भी थी कि तुलसीदास नन्ददास के भाई हैं।

ग्रियर्सन ने अपने ग्रंथ 'वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दोस्तान' में नन्ददास का रचना-काल १५६० ई० माना है, परन्तु जीवनवृत्त नहीं लिखा है। मिश्रबन्धु-विनोद (मिश्रबन्धु) में लिखा है कि नन्ददास 'किसी गोस्वामी तुलसीदास' के भाई थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखा है—

"गोस्वामी जी को नन्ददास से कोई सम्बन्ध न था, यह बात पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है"। उन्होंने 'वार्ता' के कथन की प्रमाणिकता स्वीकार नहीं की है। आधुनिक ग्रंथों में 'सुकविसरोज' और "बुन्देल वैभव" (प्र० सं० १९९०) में तुलसीदास और नन्ददास को चचेरा भाई स्वीकार किया गया है। इनमें लिखा है कि वे सनाढ्य थे, और ज़िला एटा के रहने वाले थे।

वर्तमान काल में हमारे कुछ सम-सामयिकों ने नन्ददास के जीवन-वृत्त की विशेष खोज की है। परन्तु अधिकांश सामग्री तुलसीदास के सम्बन्ध में खोज करते-करते प्राप्त हुई है और उसका उपयोग नन्ददास के लिए भी हुआ है। १९२७ ई० में फीनक्स प्रेस देहली से कवि कृष्णदास कृत सूकरक्षेत्र महात्म्य प्रकाशित हुआ। १९३९ ई० में यह पुनः प्रकाशित हुआ। 'नवीन भारत' (एटा) के नवम्बर १९३८ ई० के अंक में रत्नावली-सम्बन्धी कुछ चर्चा की गई और इसी मयस श्री नाहरसिंह सोलंकी के सम्पादकत्व में 'रत्नावली' नाम की पुस्तिका प्रकाशित हुई जिसमें पं० मुरलीधर चतुर्वेदी कृत रत्नावली चरित और रत्नावली लघुदोहा संग्रह एवं पं० रामदत्त भारद्वाज कृत भूमिका भी छपी है। इसके बाद 'विशाल भारत', 'सनाढ्य जीवन,' 'हिन्दुस्तानी' 'माधुरी' आदि मासिक पत्रों में नन्ददास, तुलसीदास और सोरों की नवीन सामग्री को लेकर बड़ी चहल-पहल रही।

नन्ददास सम्बन्धी सामग्री का पूरा ब्यौरा इस प्रकार है—

(१) महाकवि नन्ददास—पं० रामदत्त भारद्वाज, विशाल भारत जून १९३९।

(२) तुलसीदास और नन्ददास—श्री रामचन्द्र विद्यार्थी, 'विशाल भारत', अगस्त १६३६

(३) तुलसी-स्मृति अंक (सनाढ्य जीवन) सितम्बर १६३६— सम्पादक पं० गोविन्दवल्लभ भट्ट, पं० भद्रदत्त शर्मा, पं० प्रभुदयाल शर्मा।

(४) दोहा रत्नावली—सम्पादक पं० प्रभुदयाल शर्मा, इटावा १६३६

(५ तुलसीदास और नन्ददास के जीवन पर नया प्रकाश, बा० दीनदयालु गुप्त, हिन्दुस्तानी, १६३६

(६) नन्ददास—श्री शम्भुप्रसाद बहुगुणा। नागरी प्रचारिणी पत्रिका, माघ १६६६ वि०।

(७) कुछ प्राचीन वस्तुएँ—पं० रामदत्त भारद्वाज, 'माधुरी,' १६४०। इसमें 'भ्रमरगीत' की पुष्पिका आदि पहली बार आई है।

(८) वर्षतंत्र और वर्षफल—पं० रामदत्त भारद्वाज, 'माधुरी,' अगस्त १६४०

(६) सोरों से प्राप्त गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-वृत्त से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री की बहिरंग परीक्षा—माताप्रसाद गुप्त, 'सम्मेलन पत्रिका', अगस्त-सितम्बर १६४०

(१०) महाकवि नन्ददास का जीवन-चरित्र—श्री दीनदयालु गुप्त, 'हिन्दुस्तानी,' जनवरी, १६४१

(११) मुरलीधर चतुर्वेदी कृत रत्नावली चरित—पं० रामदत्त भारद्वाज (नवीन भारत, तुलसी अंक, मार्च, १६४१)

(१२) दोहा रत्नावली (उपलब्ध प्रतियों का पाठांतर-सहित सम्पादन)—पं० रामदत्त भारद्वाज (वही)

(१३) सन् १६१२ ई० में डा० धीरेन्द्र वर्मा, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय ने काकौर से सं० १६६० में प्रकाशित

८४ और २५२ वार्ताओं के आधार पर अष्टछाप कवियों की वार्ताओं का 'अष्टछाप' नाम से संकलन किया जो रामनारायण लाल, प्रयाग ने प्रकाशित किया।

(१४) सं० १९९६ में कांकरोली से "प्राचीन वार्तारहस्य" प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। इसमें गो० हरिराय जी के 'भावप्रकाश' (सं० १६४७—सं०१६७२) की सूचना मिली। इस ग्रंथ में पुष्टिमार्गीय भक्तों के वृतान्त कुछ विशेष सूचना के साथ दिये गये हैं।

(१५) सं० १९९८ में द्वितीय भाग प्रकाशित हुआ। इसमें अष्टछाप के कवियों (अष्टसखाओं) का ही वृतान्त है। इसके सम्पादक श्री द्वारिकादास जी हैं। इसमें गो० हरिराय जी कृत भाव-प्रकाश के साथ-साथ अष्टछाप की वार्ता है जिसका आधार सं० १७५२ की "अष्ट सखान को वार्ता" ग्रंथ है। "अष्टसखा तथा" "८४ वार्ता" की सं० १६९७ की प्रतिलिपि काकरोली में विद्यमान है परन्तु उसे प्रकाश में नहीं लाया गया है। इस द्वितीय भाग की गुजराती प्रस्तावना श्रीकण्ठमणि शास्त्री ने बड़ी विद्वता-पूर्वक लिखी है। इससे नन्ददास और सूरदास के सम्बन्ध और नन्ददास के मौलिक चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

इस आधुनिक खोज-सामग्री और नन्ददास पर आलोचना आदि के प्रकाशन के इतिहास से यह स्पष्ट हो जायगा कि नवीन सामग्री और उसके आधार पर लिखे हुए निबन्ध १९३८ ई० से हमारे सामने आते हैं। इस तरह नन्ददास की नवीन खोजें अति आधुनिक हैं और उन पर विद्वानों ने निर्णयात्मक सम्मति नहीं दी है। खोज-सामग्री तीन केन्द्रों में मिली है—

(१) सोरों, ज़िला एटा, और ज़िला अलीगढ़ (२) कांकरोली, विद्या, विभाग (३) ब्रज, मथुरा।

परन्तु कांकरोली और ब्रज-मथुरा की सारी उपलब्ध या प्राप्त सामग्री अभी प्रकाशित होकर हमारे सामने नहीं आई है। सम्भव है विशेष खोज से कांकरोली और ब्रज-मथुरा केन्द्रों में और भी सामग्री प्राप्त हो और कवि के जीवन-वृत्त के निर्णय में सहायक हो। कांकरोली से प्रकाशित वार्ता-रहस्य द्वितीय भाग में संस्कृत की वार्ता का भी उल्लेख है जिसका कुछ भाग पहले भाग के साथ प्रकाशित भी हुआ है, परन्तु बताया यह गया है कि इसमें सारे अष्टछाप कवियों की वार्ताएँ प्राप्त नहीं हो सकी हैं, शायद नष्ट हो गई हैं, अतः उन्हें नहीं दिया जाता। परन्तु पता नहीं जो प्राप्त हैं सम्पादन में उनसे किसी प्रकार का सहारा लिया गया है, या नहीं। यह आशा प्रकट की गई है कि शायद इस संस्कृत वार्ता की और कोई प्रति प्राप्त हो जाय। प्राप्त सारी सामग्री को एक सूत्र में बाँधना कोई कठिन काम नहीं है, यदि

(१) हम बाबा बेनीमाधव दास के उल्लेखों को ग़लत सिद्ध कर अयोग्य मान लें।

(२) यदि हम नाभादास के तुलसीदास-नन्ददास का सम्बन्ध न लिखने की कुछ समझ में आनेवाली व्याख्या कर सकें। हमने अन्यत्र देखा है कि मूल गुसाईं चरित्र की प्रामाणिकता कई विद्वानों ने असिद्ध कर दी है, अतः इस सामग्री का एक प्रकार निराकरण हो ही जाता है। रही नाभादास की सामग्री—हम बता चुके हैं, कि यह सामग्री और इसकी टीकाएँ नन्ददास के जीवन-वृत्त के लिए एक श्रेणी में आती है, वार्ता आदि की अन्य सामग्री दूसरी श्रेणी में। हो सकता है, नाभादास ने यह समझा हो कि नन्ददास से तुलसीदास का सम्बन्ध दिखाने और फिर उन्हें कृष्ण भक्त कहने से तुलसीदास की महत्ता में कमी आ जायगी कि इनके भाई कृष्ण भक्त हुए। या चन्द्रहास भी भक्त हों, और नाभादास से परिचित हों, और इस परिचय के आग्रह से नाभादास ने उनका नाम लेना अच्छा समझा हो। नीचे हम शेष समस्त सामग्री के आधार पर नन्ददास के जीवन-वृत्त का निर्माण करेंगे, परन्तु ऐसी

अवस्था में अधिकांश आधार वार्त्ता और कॉंकरोली से प्रकाशित सामग्री है। नन्ददास का जन्म अनुमानतः सं० १५३० के लगभग सोरों के निकट रामपुर ग्राम में हुआ। पिता जीवाराम सनाढ्य ब्राह्मण थे। वे सोरों-निवासी तुलसीदास के पिता आत्माराम के सगे भाई थे। नन्ददास के एक छोटे भाई थे चन्द्रहास। तुलसीदास और नन्ददास दोनों के पिता का देहान्त बालपन में हो गया था। और वे दोनों दादी के पास सोरों रहे।

दोनों को रामानन्दी पंडित नरहरि ने संस्कृत विद्या पढ़ाई। इसके बाद तुलसीदास कथा-द्वारा कुटुम्ब का पोषण करने लगे और नन्ददास भी उनके साथ रहते। दोनों भाई रामोपासक थे।

१६०६ ई० में नन्ददास और तुलसीदास काशी में थे। वहाँ से एक संघ रणछोड़जी जा रहा था। इसके साथ नन्ददास भी हो लिए। रास्ते मे संघ १० दिन के लिए मथुरा रुका, परन्तु नन्ददास स्वभाव के उच्छृंखल थे, इकले ही चल दिये। मार्ग भूलकर सिंहनद ग्राम में में आ पहुँचे। वहाँ एक क्षत्राणी पर आसक्त हो गये और उसके पीछे-पीछे गोकुल पहुँच कर विठ्ठलेश्वर की सेवा में उपस्थित हुए। इसके बाद उनका कायाकल्प हो गया।

कुछ दिनों के बाद वे विट्ठलेश्वर के साथ गोवर्धन आये। वहाँ अष्टछाप में उन्हें स्थापित किया गया। इस समय श्रीविट्ठलेश्वर ने सम्प्रदाय-ज्ञान और सत्संग के लिए इन्हें सूर को सौंपा।

इसके बाद प्रभू की आज्ञा से सूरदास ने उन्हें चन्द्रसरोवर (पारसोली) अपने पास ६ महीने रखा। इन्हें विद्या का घमंड था। सूर ने दैन्य की शिक्षा दी और विद्या-मद दूर किया। इस समय (१६०७) उन्होंने इनके लिए 'साहित्य लहरी' की रचना की और कूट-पदों आदि के द्वारा मृदु शृंगार की स्थापना से मर्यादापूर्ण राम भक्ति दूर की। जब कृष्ण के प्रति अटल भक्ति हो गई तो काव्य-प्रतिभा संकुटित हुई। फलतः नन्ददास की रचना अलकारपूर्ण और

शृंगारमई है। 'अष्टछाप' के कवियों में सूरदास के पीछे इन्हीं का स्थान है। रीतिकाव्य-क्षेत्र में नन्ददास सूरदास के शिष्य हैं। सूरदास ने इनके लिए ही ६ मास में समस्त साहित्य लहरी की रचना की थी, कदाचित् रीति शास्त्र की शिक्षा भी ध्येय था, इसी से उसमें नायिका भेद आदि के दर्शन होते हैं। इस प्रकार नन्ददास की आसक्ति शृंगार-पूर्ण कृष्ण-भक्ति में हुई।

'वार्ता' से ज्ञात होता है कि तुलसीदास ने नन्ददास को घर आने का पत्र लिखा, परन्तु उन्होंने उपेक्षा की।

अनंतर प्रसिद्ध जन-श्रुति है कि सूरदास ने नन्ददास में गृहस्थ भावना देखकर उन्हें घर जाने के लिए प्रेरणा की, परन्तु नन्ददास तैयार नहीं हुए, तब उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—जब तक तुम घर जाकर गृहस्थाश्रम का उपभोग न कर लोगे तब तक लीला का साक्षात्कार न कर सकोगे। तुम्हारे हृदय में अभी वैराग्य दृढ़ नहीं है। इस प्रकार एक बार गृहस्थाश्रम का उपभोग कर लो, साथ ही वहाँ पुष्टि भक्ति का प्रचार करना।

सूरदास की आज्ञा मानकर नन्ददास रामपुर गाँव आ गये। १६१२ सम्वत् के लगभग 'कमला' नाम की कन्या से उनका विवाह हुआ। जब तक घर रहे, कृष्ण भक्ति के प्रचार के लिए भागवत की कथा कहते रहे। उन्हीं के प्रभाव से रामपुर का नाम श्यामपुर के नाम से प्रसिद्ध किया। 'रामपुर' के सरकारी पत्रों में श्यामपुर और श्याम सर गाँव के नाम के रूप में आते हैं। वार्ता की कथाओं में चरित्रों का सारा जीवन-वृत्त नहीं है। उसमें उतना ही अंश दिया है जितना आध्यात्मिक दृष्टि से आवश्यक है, अतः उसमें नन्ददास के जीवन का वह सब पूर्व वृत्तान्त नहीं आया जो हमें सोरों में प्राप्त सामग्री से उपलब्ध होता है। इसके अनन्तर उनके जो पुत्र हुआ, उन्होंने उसका नाम कृष्णदास रखा। इस प्रकार सूरदास की वाणी सफल हुई, उन्होंने अपने शिशु की बालक्रीड़ा में गिरिधर की लीला

के दर्शन किये, और फिर सं० १६२४ में तुलसीदास काशी से सोरों आये। तब रत्नावली अपने मायके बदरिया गई हुई थी। तुलसीदास स्त्री के प्रेम में विह्वल हो आधी रात में चढ़ती गंगा को पार करके अपनी ससुराल बदरिया पहुँचे। वे विश्राम कर रहे थे कि एकान्त पाकर रत्नावली पति के दर्शनार्थ आई। वहाँ स्त्री के आदेश से उनके हृदय में राम-भक्ति के प्रति दृढ़ भाव उत्पन्न हुआ। उसी रात वे घर से निकल गये। सं० १६२८ के लगभग तुलसीदास वृन्दावन आये वहाँ उन्होंने सभी स्थानों के दर्शन किये। गोवर्धन पर नन्ददास से मिले और चन्द्र सरोवर पर सूरदास से समागम हुआ। यहाँ सूर ने उनकी राम-भक्ति को पहचान कर राम-कृष्ण के भेदत्व से उन्हे परिचित कराया। कदाचित गोकुल में श्री विठ्ठलेश्वर ने भी उन्हें यही शिक्षा दी। तुलसी का हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने विठ्ठलेश्वर का सेवक होना चाहा। उन्होंने कहा—यहाँ अनेक सेवक हैं मर्यादा मार्ग में तुम्हीं हो, अतः उदारतापूर्वक अस्वीकार किया। (दे० वार्ता: गुजराती विभाग)

इन प्रसंगों की पुष्टि 'सम्प्रदायकल्पद्रुम' और सं० १६२६ की 'भावना' के प्रसंगों से भी होती है। काँकरोली में कुछ ऐसे पद सुरक्षित हैं जिन पर तुलसी की छाप है। उनमें तुलसी ने इस अभेदत्व का वर्णन किया है जैसे—

वरनो अवध श्री गोकुल ग्राम
उत विराजत जानकी वर, इतहि सुन्दर स्याम, इत्यादि

एक पद में तुलसी के गुसाईंजी के सेवकों की भी प्रशंसा है—

जे कहत सेवक निज द्वार के
धरों सँवारि पन्हैया ताकी श्री वल्लभ राजकुमार के

सम्भव है वल्लभ-कुल-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए इस प्रकार की सामग्री गढ़ ली गई हो, परन्तु इस सम्बन्ध में सामग्री का परीक्षा किये बिना कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

जन्म तिथि—ऊपर हमने नन्ददास के जीवन के सम्बन्ध में विशद विचार किया है। अब हमें यह देखना है कि इस नन्ददास के जन्म, मृत्यु आदि के सम्बन्ध में किन निश्चित् सिद्धान्तों पर पहुँच सकते हैं। श्री दीनदयालु गुप्त एम० ए० एल-एल० बी० ने अनुमान से स० १५६४ में नन्ददास की जन्म-तिथि मानी है। श्री द्वारिकदास (कॉकरोली) का अनुमान है कि यह जन्म सम्वत् १५६० है। नन्ददास के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में अभी हमें एक ही निश्चित तिथि प्राप्त हुई है। यह तिथि १६०७ में साहित्य लहरी (सूरदास) की रचना-तिथि है। 'नन्दनन्दनदास हित साहित्य लहरी कीन'। इस तिथि से कुछ पहले ही नन्ददास ने गुसाईंजी से दीक्षा ली होगी। उस समय वे वयस्क अवश्य होंगे। जो हो, जन्म तिथि का केवल अनुमान ही हो सकता है। श्री द्वारिकाधीश की तिथि के हिसाब से क्षत्राणी से प्रेम करने के समय वे १६ वर्ष के युवा होंगे, परन्तु श्री गुप्तजी के हिसाब से उनकी अवस्था उस समय २३—२३ वर्ष की होगी। रसिकता का विशेष विकास १६ वर्ष की आयु के बाद ही होता है—यदि वे काफ़ी व्यस्क नहीं होते, तो क्षत्री को गम्भीरतापूर्वक उन पर विचार न करना होता। तब तक उन्होंने रामोपासना की थी और कदाचित् राम-भक्ति-पूर्ण कुछ पद भी रचे थे। 'वार्ता' में स्पष्ट है कि वे उस समय कविता भी कहते थे, गाते भी सुन्दर थे। अतः इस सब के लिए हमें यह निश्चित रूप से मानना होता है कि वे यौवन की सीढ़ी पर काफ़ी दूर तक चढ़ गये थे।

जाति—स० १६६० की "गुसाईंजी के चार सेवकन की वार्ता" से पता चलता है कि वे सनाढ्य ब्राह्मण थे। इसमे संदेह करने का कोई कारण नहीं है। कृष्णदास के अर्थों और अन्य उल्लेखों से भी इस निर्णय की सत्यता सिद्ध होती है।

शरणागति समय—श्री दीनदयाल गुप्त के अनुसार नन्ददास का शरणागति समय सं० १६२८ है और द्वारिकादास कांकरोली के

अनुसार १६०६ । 'साहित्य लहरी' अंतिम तिथि के पक्ष में ही निर्णय देती है।

स्थायी निवास—इनका स्थाई भी निवास गोवर्धन और मानसी गंगा ही है । यहीं ये नवनीत प्रिय और श्रीनाथजी के कीर्तन-वन्दन में लगे रहते थे ।

रचनाएँ—नन्ददास की रचनाओं के सम्बन्ध में हमने आगे विस्तृत रूप से विचार किया है—यहाँ हम केवल भूमिका-रूप में कुछ कहेंगे । नन्ददास की रचनाओं के तीन भाग हो सकते हैं :

१—रामभक्ति, हनुमान और रामकृष्ण के अभेदत्व के पद—इनकी भाषाशैली उतनी परिष्कृत नहीं है, जितनी अन्य प्रौढ़ ग्रन्थों की । इससे यह सम्भावना हो सकती है कि इस प्रकार की रचनाओं को कवि ने शरणागति के काल (१६०७) तक लिखता है । इन रचनाओं में उनकी कवित्व शक्ति का विशेष प्रकाशन नहीं हुआ है, कला भी उच्च कोटि की नहीं है ।

२—पदावली—कृष्णभक्ति पर पदों का रचनाकाल १६०७ से जीवन के अंत समय तक होगा । अधिकाश पद ऐसे हैं उनमें कवि इतना प्रौढ़ नहीं है जितना 'भँवर गीत' और 'रासपंचाध्यायी' में । हो सकता है, इन अप्रौढ़ पदों की रचना सूर के शिष्यत्व (१६०७) से लेकर उनके ब्रज लौट आने तक हुई होगी । इन पर सूर की विशेष छाप पद-पद पर दीखती है । परन्तु कवि अपने जीवन के अन्तकाल तक पद गाता रहा होगा, क्योंकि वह नित्य और नैमित्तिक कीर्तनों में प्रमुख भाग लेता था । अतः उसके प्रौढ़ गीत कम न होंगे । हो सकता है कि १६०८–१६२८ तक कवि ने साहित्यशास्त्र और भाषा का विशेष अध्ययन किया हो और अनेककार्थ नाम माला (अनेकार्थ मंजरी) और नाम माला (मान मंजरी) जैसे ग्रंथ इसी काल में रचे गये हों ।

३—प्रौढ़ ग्रंथ—कवि के प्रौढ़ ग्रंथ अवश्य ही १६२८ के बाद लिखे गये होंगे । जान पड़ता है इन प्रौढ़ ग्रंथों में से भी स्याम सगाई,

भवँरगीत, रासपंचाध्यायी और सिद्धांत-पंचाध्यायी पहले लिखे गये होंगे, क्योंकि इन पर रूपमंजरी (रसिकमित्र) की छाप कहीं नहीं है। ये कवि के प्रौढ़तम ग्रंथ हैं और उसकी प्रतिभा की प्रसिद्धि इन्हीं ग्रंथों पर रही है। हो सकता है, इन ग्रंथों की रचना का उसे 'रसिक मित्र' से उसका परिचय न रहा हो। रासपंचाध्यायी और सिद्धान्त-पंचाध्यायी लगभग एक ही समय के ग्रंथ हैं। सम्भव है, जैसा हमने अन्यत्र लिखा है, दोनों एक ही ग्रंथ रहे हों। परन्तु यदि वे अलग-अलग ग्रंथ हैं, तो रासपंचाध्यायी ही पहले बना होगा। सिद्धान्त पंचाध्यायी में उसी की व्याख्या है, अतः उससे पहले ही बनना आवश्यक है। अन्य प्रौढ़ ग्रंथों पर 'रसिकमित्र' का आग्रह या छाप अवश्य है। 'विरहमंजरी' 'रसमंजरी' और दशम स्कंध में इन मित्र का स्पष्ट उल्लेख है। रूपमंजरी से कुछ विद्वानों के अनुसार उसी मित्र की कथा है। ये सब ग्रंथ एक ही श्रेणी के हैं—सिद्धान्त ग्रंथ। इनमें काव्यकला का इतना आग्रह नहीं है जितना साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का। इस दृष्टि से ये कवि की अन्तिम रचनाओं में आते हैं। हो सकता है, इसी समय कवि ने अपने पहले दो ग्रंथों (अनेकार्थ नाममाला और नाममाला) का नाम बदल कर उन्हें 'मंजरी' की श्रेणी में बिठा दिया हो। इन प्रौढ़ ग्रंथों का रचनाकाल १६२५ से १६४० तक है। 'रुक्मणी मंगल' भी इसी काल की रचना है। 'रूपमंजरी', 'विरहमंजरी' 'रसमंजरी' और दशम स्कंध के छन्द और रचना शैली हमें तुलसी के रामचरितमानस की याद दिलाते हैं। रामचरितमानस की रचना-तिथि १६३१ सम्वत् है। अतः यह सब ग्रंथ इस तिथि के बाद ही उस समय लिखे गये होंगे जब उसकी प्रसिद्ध हो गई होगी। 'दशमस्कंध' तो स्पष्टतः तुलसी की प्रसिद्ध रचना की होड़ में लिखा गया है। 'वार्ता' में स्पष्ट लिखा है कि तुलसीदास की रामायण को देखकर ही नन्ददास को भागवत का अनुवाद करने की सूझी थी। 'रुक्मणी मंगल' भी कदाचित् 'पार्वती मंगल' या 'जानकी मंगल' के प्रभाव से रचा गया होगा। 'मंगल'

शब्द का प्रयोग इन सब ग्रंथों में विशेष अर्थ हुआ है। इन सबका विषय विवाह है और विवाह समय के मंगल गान के लिये ही इनकी रचना हुई है। इस प्रकार नन्ददास के इन प्रौढ़तम ग्रंथों के रचनाकाल के हिसाब से, हम दो भागों में बाँट सकते हैं।

१—१६२४ से १६३१ या कुछ बाद तक लिखे ग्रंथ—श्याम सगाई, भँवरगीत, रासपंचाध्यायी, सिद्धान्त पंचाध्यायी।

२—१६३१ या कुछ बाद शुरू होकर जीवन के अन्त के लिखे ग्रंथ—रूपमंजरी, विरहमंजरी, दशमस्कंध, रुक्मणी मङ्गल।

मृत्यु—जीवन-तिथि की भाँति कवि की मृत्यु-तिथि भी अनुमानित ही है। वार्ता से पता लगता है कि नन्ददास की मृत्यु अकबर और बीरबल के समकक्ष हुई। बीरबल की मृत्यु १६४८ सं० में हुई। अतः नन्ददास की मृत्यु सं० १६४७ से पहले हुई होगी। वार्ता से यह भी पता लगता है कि उनकी मृत्यु के समय गुसाईं श्री विट्ठलनाथ जीवित थे। गोस्वामीजी का गोलोकवास सं० १६४२ में हुआ। अतः नन्ददास की मृत्यु १६४२ सं० से ही पहले घटित हुई होगी। बा० दीनदयालु गुप्त ने अनुमान किया है कि कदाचित् मृत्यु-तिथि १६४० है। कदाचित् इसी समय अकबर बीरबल के साथ व्रज में आया था।

मृत्युस्थान—वार्ता के अनुसार उनकी मृत्यु मानसीगंगा पर ही हुई जहाँ उनका स्थायी निवास था।

३

रचनाएँ

जनसाधारण में नन्ददास की दो रचनाएँ ही प्रसिद्ध हैं—भँवरगीत और रासपंचाध्यायी, परन्तु प्राचीन लेखकों के उल्लेखों और आधुनिक खोजों के फलस्वरूप हमें अब तक उनके ३० ग्रंथों का पता लग सका है—१ पंचाध्यायी, २ नाममंजरी, ३ अनेकार्थ मंजरी, ४ रुक्मणी मंगल, ५ भँवरगीत, ६ सुदामाचरित्र, ७ विरहमंजरी, ८ प्रबोधचन्द्रोदय नाटक, ६ गोवर्धनलीला, १० दशमस्कंध, ११ रासमंजरी, १२ रसमंजरी १३ रूपमंजरी, १४ मानमंजरी १५* दानलीला, १७ मानलीला, १७† हितोपदेश, १८ ज्ञानमंजरी १६ नाम चिन्तामणि-माला, २० नासिकेत पुराण, २१ श्याम सगाई २२ विज्ञानार्थ प्रकाशिका‡ २३ सिद्धान्त पंचाध्यायी|| २४ जोगलीला २५ फूलमंजरी २६ रानी भंगौ २७ कृष्ण-मंगल, २८§ रासलीला २६ बाँसुरी लीला$ ३० अर्थ चन्द्रोदय¶।

---

* हिन्दुस्तानी, भाग २, द्वितीय संस्करण पृ० ४४५ (काशी)

† माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दोस्तान (१८८६ ग्रियर्सन)

‡ मिश्रबन्धु विनोद (द्वितीय संस्करण १६२६)

|| हिन्दी साहित्य का इतिहास (पं० रामचन्द्र शुक्ल १६४०)

§ नागरी-प्रचारणी-सभा की खोज रिपोर्ट

$ श्री द्वारकेश पुस्तकालय, काकरोली

¶ 'नन्ददास' भूमिका पृ० २०—ये दो छोटी प्रकाशित पुस्तकें हैं जिनकी प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हुई हैं और परीक्षा नहीं हो सकी है।

इन ग्रंथों में से ७ ग्रंथ अप्राप्य हैं—प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक, रास मंजरी, मानलीला, मानमंजरी, विज्ञानार्थ प्रकाशिका, बाँसुरीलीला, और अर्धचन्द्रोदय। अतः सामग्री के अभाव में इनके सम्बन्ध में हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकते। "नन्ददास" के सम्पादक के अनुसार नाममंजरी, मानमंजरी और नाम चिन्तामणि-माला वास्तव में एक ही ग्रंथ के तीन नाम हैं।* दानलीला, हितोपदेश और रास-लीला को उन्होंने किन्हीं अन्य अप्रसिद्ध नन्ददास की कृति माना है† और जोगलीला का उदयनाथ कवीन्द्र की रचना प्रमाणित किया है।‡ फूलमंजरी, रानी भंगौ और कृष्णमंगल बहुत ही छोटी रचनाएँ हैं, अंतिम रचना तो एक ही पद है। इनके सम्बन्ध में सम्पादक अनिश्चित है॥। शेष रचनाओं में से भी सुदामाचरित और नासिकेत पुराण के सम्बन्ध में उन्हें संदेह है¶। इस प्रकार प्रामाणिक रचनाएँ केवल रह जाती हैं—पंचमंजरी (रूपमंजरी, श्याम सगाई, विरहमंजरी, रसमंजरी, मानमंजरी, अनेकार्थ मंजरी), भँवरगीत, रासपंचाध्यायी, सिद्धान्त-पंचाध्यायी, दशमस्कंध।

इन्हीं ग्रन्थों का सम्पादित संस्करण हमें प्राप्त है, जिसे हमने अपने इस अध्ययन का आधार बनाया है।

इस संक्षिप्त ग्रन्थ-निर्णय के बाद हम नन्ददास की रचनाओं का विस्तृत परिचय देंगे।

१—पंचमंजरी

नन्ददास के पाँच 'मंजरी'-ग्रन्थों को हम एक साथ 'पचमंजरी' शीर्षक के नीचे रख सकते हैं। ये ग्रन्थ हैं—रूपमंजरी, विरहमंजरी,

---

* 'नन्ददास' पृ० २० भूमिका

† वही

‡ वही पृ० ३६

॥ वही पृ० ४०

¶ वही

रसमंजरी, मानमजरी और अनेकार्थमंजरी। 'मंजरी' शब्द नन्ददास को विशेष प्रिय लगता है। जीवनवृत्त लिखते समय हमने उनकी एक रसिक मित्र 'रूपमंजरी' के सम्बन्ध में लिखा है। कदाचित् इसी वैष्णव महिला के आग्रह से और उससे प्रभावित हो नन्ददास ने अपनी अधिकांश रचनाएँ की हैं। अतः ग्रन्थों का नाम देते हुए उन्होंने इन्हें उस 'अति विचित्र' 'रसिकमित्र' से सम्बन्धित कर दिया है।

इन 'मंजरी'-ग्रन्थों में सबसे महत्वपूर्ण 'रूपमंजरी' ही है यद्यपि रसमंजरी और विरहमंजरी भी हमें उनके साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को समझने में सहायक होते हैं। रूपमंजरी में साहित्यिकता की मात्रा विशेष है। अनेकार्थमंजरी और नाममंजरी कोष-ग्रन्थ हैं। साहित्य और धर्म किसी की भी दृष्टि से उनका विशेष महत्व नहीं है।

रूपमंजरी में एक बड़ी भूमिका के बाद कवि अपनी कथा आरम्भ करता है। इस भूमिका का उपयोग हमने अन्यत्र किया है। यहाँ हम 'रूपमंजरी' की कथा-मात्र से पाठकों को परिचित करेंगे। धर्मवीर नाम का एक राजा था। 'रूपमंजरी' नाम की उसकी एक सुन्दर कन्या थी। जब वह ब्याहने योग्य हुई तो माता-पिता को चिन्ता हुई और उन्होंने एक विप्र को बुलाकर, प्राचीन प्रथा के अनुसार वर ढूँढ़ने का काम उसे सौंपा। जब विप्र महाशय चलने लगे तो स्पष्ट रूप से कह दिया—

अहो विप्र! धन लोभ न कीजै
या लाइक नाइक कौं दीजै

६२

परन्तु लोभी विप्र ने एक 'क्रूर, कुरूप' कुँवर के घर टीका दे दिया। जब लौटने पर पिता-माता और सम्बन्धियों को यह बात मालूम हुई तो उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ—परन्तु विवाह सम्पन्न हो गया। रूप-मंजरी की एक सखी इन्दुमती थी। उसने यह सोचा कि यह रूप, यह

सौन्दर्य, यह यौवन बेकार क्यों जाय। उसने उसे 'उपपति' से परिचित कराना चाहा, क्योंकि—

रस मैं जो उपपति-रस आहीं
रस की अवधि कहत कवि ताहीं

१६६

उसे 'गिरिधर कुँवर' का ध्यान हुआ, सोचा—

'इक सुनियत सब लाइक नाइक
गिरिवर कुँवर सदा सुखदाइक
हौं तिय तिनहिं कौन विधि पाऊँ
क्यौं या कुँवरिहिं' आनि मिलाऊँ

१७४-१७५

एक दिन राजकुमारी अपनी सखी इन्दुमती के साथ कनक चित्रसारी में सो रही थी। वहाँ सपने में उसने एक अत्यन्त सुन्दर नायक को देखा। जागने पर जब सखी ने उसकी संभ्रमावस्था को देखकर उससे कारण पूछा—

पूछति प्यार भरी सखि ग्याता, कहि बलि आज कहा इह बाता
लोयन लौने, ललित लजौने, चलिचलि हँसत है कानन कौने
देखति हौं बलि नहिं तुव-बसके, जस कहुँ प्रीतम रस के चसके

को सुकृती अस जगत में, जो निरख्यौ इन नैन
मो हिय जरत जुड़ाइ बलि, सींचि अमी रस बैन

२००-२०४

रूपमंजरी ने उसे अपना सपना सुनाया—वह इन्दुमती के साथ कहीं जा रही है। एक स्थान पर उसने एक बन देखा जिसकी छवि अनिर्वचनीय थी। बन में एक नीली नदी बह रही थी जिसमें कमल के फूल खिले थे। सखी ने एक कमल का फूल उसके हाथ में तोड़

कर दिया और उसे सूँघती हुई वह उसके साथ आगे बढ़ने लगी। तू (इन्दुमती) आगे निकल गई। परन्तु अकेली पाकर भी रूपमंजरी को भय नहीं मालूम हुआ, सब वस्तुएँ परिचित-सी जान पड़ीं। इतने में—

इत तैं इक कोउ नव किसोर सौ
मनमथ हू के मन कौ चोर सौ
मुसकत-मुसकत मो ढिग आयौ
नैनन मैं कछु चौंध सौ लायौ
मोंहि हँसि बूझन लाग्यौ तहाँ
इन्दुमती तेरी सहचरि कहाँ

२२३-२२५

रूपमंजरी ने कोई उत्तर नहीं दिया, परन्तु उस नायक ने एक फूल तोड़ कर उसके गाल पर खेंच मारा। इसके आगे उसे सुध-बुध नहीं रही। इन्दुमती ने उससे नायक के लक्षण जानना चाहे जिससे वह अपनी प्यारी सहेली का सन्देश उस तक ले जाये और उसे लाये। रूपमंजरी ने कहा कि यह भी क्या सम्भव है, कि स्वप्न का नायक सशरीर जाग्रतावस्था में प्राप्त हो जाये। इन्दुमती ऊषा-अनिरुद्ध का उदाहरण देकर आश्वासन देती है—

इक हुती ऊषा मेरी अली
सपने काम कुँवरि सौं मिली
ऐसै लच्छन जौ लखि पाई,
तौ सखि सौं सब बात जनाई
ताकी सखी विचित्र चित्ररेखा
गई द्वारका सूछम भेखा
बुधि ही बुधि अनिरुध लै आई
परतछ आनि कै उषा मिलाई

२४१-२४४

अन्त में रूपमंजरी नायक का रूप वर्णन करती है। ये नायक और कोई नहीं हैं, स्वयं कवि (नन्ददास) के आराध्य भगवान श्यामसुन्दर (श्रीकृष्ण) हैं—

स्याम बरन तन अस रस भीनौ, मरकत रस निचोइ जस कीनौ
मोरचंद सिर आत कछु लीनौं, मानौ अली टटावक दीनौं
सोहत अस कहुँ बाँकी भौंही, मो मन जानै, कै पुनि हौंही
चुनि-चुनि सरद कमलदल लीजै, तिनकौं मोती पानिप दीजै
ता मोहन के नैनन आगे, अलि ! तेऊ अति फीके लागे
नासिक मोती जगमग जोती, कहत जु मो मति होती ओती
पीत बसन दुति परत न कही, दामिनी सी कछु थिर ह्वै रही
लाल के लाल कछुनि छवि ऐसी, लाल निचोइ रँगी होइ जैसी
मुरली हाथ सुहाई माई, जिनहिं बजाये राग चुचाई
ताके रूप अनूप रस बौरी हौं मेरी आलि
आज तनक सुधि परन दै, सबै कहौंगी कालि
२५६-२६५

यह सुनकर इन्दुमती मूर्छित हो जाती है। जब वह मूर्च्छा से जागती है तो रूपमंजरी उससे कारण पूछती है—

सुपन की बातन क्यों मुरझानी
२७६

इन्दुमती कहती है कि उसने यह सोचकर कि उसका रूप व्यर्थ जा रहा है एक देवता को मनाया था, उसी ने नायक रूप में सपने में दर्शन दिये हैं। रूपमंजरी के उस नायक का अता-पता पूछने पर इन्दुमती कहती है—

गोकुल गाँउ, जाउँ बलिहारी
जगमगाइ छवि जग तै न्यारी
तहँ कौ गोप नन्द बड़ राजा
सदा सरवदा एकहि साजा

जसुमति रानी सब जग जानी
भाग भरी, सुर-नरन बखानी
रमा, उमा-सी दासी जाकी
ठकुराइत का कहियै ताकी
तिनकौ सुत सो कुँवर कन्हाई
ताकी छवि तू दिखि ही आई

२८५-२६०

धीरे धीरे रूपमंजरी का प्रेमभाव बढ़ने लगा। इन्दुमती उसी में अपने प्रभु (गिरिधर) को पूजने लगी क्योंकि—

रूपमंजरी तिय कौ हियौ
गिरिधर अपनौ आलय कियौ

२६५

इसके बाद कवि रूपमंजरी के प्रेमभाव के क्रमिक विकास को उपस्थित करता है और उसे क्रमशः हाव, भाव, हेला की अवस्थाओं के भीतर से ले जाता हुआ इस परम प्रेमावस्था में परिणित करता है—

भूख पियास सबै मिट गई, खाइ कछू गुरुजन की लई
मन की गति पिय पै इक ढारा, समुद मिली जैसैं गंग की धारा
उमकि दै नैन नीर भरि आवै, पुनि सुखि जाइ, महाछवि पावै
पुलकि अंग सुरभंग जनावै, बीच बीच मुरझाई पावै
बिवरन तन अस देइ दिखाई, रूपवेलि जैसे घाँम मैं आई
तनक बात सौ पिय पै पावै, सौ त्रिरियाँ सुनि तृपति न आवै

इस परमरति के फलस्वरूप—

रूपमंजरी तिय हियहि, पिय झलकै इमि आइ
चंद्रकांत मनि मांझ जिमि, परमचंद्र की छाँइ

३१६

परन्तु प्रेमिका को इस रूपाभास से तो तृप्ति होती नहीं। वर्षागम होता है। कवि इस ऋतु में उसकी विरह दशा का चित्रण करता है। इसके अनन्तर शेष पांच ऋतुओं में विरहिणी की दशा का निरूपण है। इस प्रकार कथा के अंतर्गत प्रेमिका के भाव-विकास के नाते षटऋतु वर्णन किया गया है (३३०-५१०)

ग्रीष्म-ऋतु होते-होते रूपमजरी ने समझा कि अब वह प्रियतम के बिना जीवित नहीं रह सकेगी। वह अपने गिरिधर श्याम से प्रार्थना करती है—

कहत कि अहो अहो गिरिधरलाल
प्रभु तुम कैसैं दीनदयाल
मछरी उछरि पुलिन जौ परै
जल जड़ तदपि दया अनुसरै
बूड़त बूड़ि गई जो कोई
ताहिं कहत गहि राखै सोई
तुम सब लाइक, त्रिभुवन नाइक
सुखदाइक, सुभ-करन सुभाइक
अरु तुमहूँ अपने मुख कही
सो सब पूरि रही है यही
जिहि-जिहि भाँति भजै जो मोहि
तिहि-तिहि बिधि सो पूरन होहि

५२४-५२८

उसे नींद आ जाती है। सपने में उसे कृष्ण का संयोग प्राप्त होता है। नन्ददास ने हीं इस स्थल पर नवोढ़ा-नायिका के साथ ऋतुविहार का सुन्दर वर्णन किया है। रात बीतते समय—

सब निसिके जागे अनुरागे
रंचक सोइ गये उर लागे

५५६

सुबह रूपमंजरी जागती है तो उसके अलसाये अंगों और रति-चिह्नों को देख कर सखी इन्दुमती जान लेती है कि इसे इष्ट वर की प्राप्ति हो गई। परन्तु कवि ने स्वप्न की प्राप्ति और जाग्रति के अनुभव में कोई भेद नहीं रखा है। सखी देखती है कि रूपमंजरी के गले में जो माला है, वह उसकी नहीं है—

फूल माल जो पिय पै पाई
कुँवरि के कठ चली सो आई

५६६

जब हम 'रूपमंजरी' की इस कथावस्तु को ध्यान से पढ़ते हैं, तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि कथा के पीछे कवि के धार्मिक सिद्धान्त छिपे हुए हैं, इन्हीं सिद्धान्त रत्नों को प्रकाशित करने के लिए उसने कथा को अपनाया है। स्वयं रूपमंजरी की कथा कथा-दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। यही कारण है कि कथा में पात्रों का कोई विकास नहीं हो पाया है। रूपमंजरी और इन्दुमती दोनों छायाचित्र मात्र रह जाती हैं। कवि के ये सिद्धान्त क्या हैं, यह प्रश्न हो सकता है।

इस ग्रन्थ में वह एक प्रेमपद्धति का वर्णन कर रहा है। इस प्रेम-पद्धति को उसने 'प्रभु की प्राप्ति' का एक मार्ग माना है—

पैबे कौं प्रभु के पंकज पग
कविन अनेक प्रकार कहे मग
तिनमैं इह इक सूच्छम रहै
हौं तिहि बलि जो इहिं चलि चहै

१६, १७

रूपमंजरी की कथा को इस प्रेमपद्धति के प्रकाशन का साधन-मात्र बनाया गया है। रूपमंजरी के वयस्क होने पर माता-पिता की चिन्ता और ब्राह्मण के लोभ के कारण क्रूर और कुरूप पति को उसका ब्याहा जाना—लौकिक कथा इतनी ही है। इस कथा को आगे इन्दुमती के सहारे बढ़ाया गया है। वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में सबसे प्रधान

सिद्धान्त यह है कि संसार का श्रेष्ठतम सौन्दर्य, प्रेम, भाव, ऐश्वर्य सब भगवान को ही समर्पित होकर सार्थक होता है। कृष्णदास अधिकारी की कथा में हम पढ़ते हैं कि उन्होंने आगरे में एक अत्यन्त सुन्दरी वेश्या को देखा, उसकी कला पर मुग्ध हो वे उसे भगवान को आरोगने के लिए गोवर्धन ले आये। सौन्दर्य जब भगवान पर ही न चढ़ा, तो उसकी सार्थकता क्या ? (देखिये २५२ वैष्णवों की वार्ता)। यही भाव सिद्धान्त रूप से रूपमंजरी की कथा में गूँथ दिया गया है। इन्दुमती सोचती है कि यह रूप सफल कैसे हो (१६५) ? इसके लिए वह उपपति-रस की आयोजना करती है। तात्पर्य यह है कि भक्त को भगवान के प्रति ऐसा तीव्र प्रेम होना चाहिए जो प्रेमिका को उपपति के प्रति होता है। यही परकीया भाव की उपासना है। रूपमंजरी के लिए कृष्ण उपपति ही हैं। परन्तु इस रस की प्राप्ति के लिए साधक या गुरु दोनों में से किसी को उद्योग तो करना ही पड़ेगा—

जाकौं संभु समाधि लगावै, जोगी जन मनहू नाहिं आवै
निगमहिं निपट अगम जो आही, अबल किहि बल पावै ताई
१७६, १७७

गुरु उद्योग करता है। इन्दुमती गुरु है। वह रूपमंजरी को गिरिधरप्रिय के सम्बन्ध में बताती है और गोवर्धन जाकर उसकी प्रतिमा दिखा लाती है। गुरु पहले प्रतिमा ही बतलाता है क्योंकि शाखान्याय से ही चन्द्रमा सहज ही दिखलाई पड़ जाता है। पहले प्रतिमा, तब सूक्ष्म। परन्तु प्रतिमा दिखाने भर से प्रियतम के दर्शन नहीं हो पाते। उसके लिए गुरु को प्रार्थना करनी होती है, हाथ पकड़ कर शिष्य को सीढ़ी-सीढ़ी आगे बढ़ाना होता है। प्रगट तो वह आप होता है अपने अनुग्रह के साथ। यही "पुष्टि" सिद्धान्त है। भगवान की पुष्टि, उनकी अनुकंपा ही, भक्तों का पोषण करती है। इसी से नायक पहले आप ही रूपमंजरी को दर्शन देते हैं। इस "पुष्टि" के

के बाद भक्त का भगवान के प्रति विशेष आग्रह होता है, उनके प्रति उसकी जिज्ञासा बढ़ती चलती है। गुरु पद-पद पर उसकी जिज्ञासा को उकसाता है और उसे भगवान के सत्य स्वरूप और प्रेममय व्यक्तित्व से परिचित कराता है। वह स्वयं उसका सहचर है। भक्त को मार्ग पर लगाना ही उसके जीवन का ध्येय है, आनन्द है—

प्रेम बढ़ावहिं छिनहिं छिन, बूझि-बूझि उनहारि
ज्यौं मथि काढ़ी अग्निकन, क्रम-क्रम देत पजारि
२४६

भगवान की अनुपम रसमयी मूर्ति से जब भक्त का हृदय परिचित हो जाता है, तब वह धन्य हो जाता है। परिस्थिति यह है कि

अनेक जन्म जोगी तप करै
मरि पचि चपल चित्त कौं धरै
सो चित्त लै उहिं ओर चलावै
तौ वह नाथ हाथ नहिं आवै
जब गोपिन कौ सौ हित होई
तब कहुँ जाइ पाइयै सोई

परन्तु भगवान की पुष्टि जब होती है तो, रूपमंजरी को जिस तरह, भक्त को यह निधि आप प्राप्त हो जाती है। धीरे-धीरे यह प्रेम भाव गाढ़, गाढ़तर, गाढ़तम हो जाता है। रसशास्त्र की परिभाषा में भाव, हाव, हेला, रति, यह क्रम है। यहाँ रस का आश्रय अलौकिक है, अतः ये प्रवृत्तियाँ भी अलौकिक हैं, इनमें सांसारिकता ढूँढ़ना ठीक नहीं है। रति-अवस्था पर पहुँच कर तीव्र विरहासक्ति की अनुभूति होती है। अंत में जब यह विरहासक्ति भी अंतिम दशा तन्मयासक्ति को पहुँच जाती है, तब भक्त को भगवान प्राप्त होते हैं—परन्तु वह भी भाव में। वल्लभ-सम्प्रदाय में भाव ही प्रधान है—भक्त भगवान को जाकर प्राप्त नहीं करता, वे उस भाव में ही मिलते हैं। इस भाव-

मिलन को ही कवि ने नवोढ़ा नायिका रूपमंजरी की गिरिधर नायक से स्वप्न में रति की कथा से प्रस्फुटित किया है। जब इस प्रकार का मिलन हो जाता है, तो भगवान के नैकट्य के चिह्नों को समझ कर गुरु जान जाता है कि शिष्य ने साधना का अन्यतम लक्ष्य प्राप्त कर लिया। हुआ क्या,

पारस परसि विरहै होइ सौनौ
पाहन तैं परमेसुर हौनौ

५६६

अंतिम दो दोहों में कवि ने अपने सिद्धांत का सार उपस्थित कर दिया है—

जदपि अगम तैं अगम अति, निगम कहत है जाहि
तदपि रंगीले प्रेम तैं, निपट निकट प्रभु आहि
कथनी नाहिन पाइयै, पैयै करनी सोइ
बातन दीपक ना बरै, बारै दीपक होइ

५७६–५८०

इस प्रकार रूपमंजरी की कथा की ओट में कवि ने वल्लभ-सम्प्रदाय की गुरु द्वारा निवेशित प्रेम-साधना का ही विस्तार किया है।

रसमंजरी ग्रन्थ में नन्ददास ने रूपमंजरी का ही विकास किया है। रूपमंजरी के नायक 'रसमय, रसकारन, रसिक' नन्दकुमार ही हैं। रूपमंजरी में कवि ने लौकिक शृंगार रस और अलौकिक भक्ति-भाव को एकसूत्र में बाँधने की चेष्टा की है। कदाचित् इस ग्रंथ की रचना के बाद या रचना करते समय उसे यह सूझा कि रसनिरूपण का भी एक ग्रंथ होना चाहिये। वह लिखता है—

एक मीत हम सौं अस गुन्यौ
मैं नाइका भेद नहिं सुन्यौ

अतः इस ग्रंथ में भूमिका में सब रसों को (जिसमें शृङ्गार रस भी है) भगवानोन्मुख कह कर नन्ददास ने नायिका-भेद और नायक-भेद कहा है—

> रूप प्रेम आनन्दरस, जो कछु जग में आहि
> सो सब गिरिधर देव को, निधरक बरनौ ताहि

कृष्ण-काव्य में शृङ्गार की इतनी सुन्दर स्वीकारोक्ति, इतनी तेजस्विता के साथ, कहीं नहीं है। रूपमंजरी में शृगारशास्त्र का विस्तृत प्रयोग हुआ है, जैसे नायक रूपवर्णन, नायिका रूपवर्णन, वय-संधि, यौवनागम, षँटऋतु-वर्णन, मुग्ध नवोढ़ा का वर्णन, अज्ञात यौवना, हाव, भाव, हेला, प्रौढ़ा आदि। सूरदास और उसके पहले विद्यापति के काव्य में रसशास्त्र का विशद और बहुत सुन्दर प्रयोग हुआ है। नन्ददास ने इस प्रयोग को आगे ही नहीं बढ़ाया, इसका एक शास्त्र खड़ा कर दिया है। रूपमजरी में रसमंजरी की कुछ चौपाइयाँ और कुछ दोहे स्थान-स्थान पर मिलते हैं। जान पड़ता है कि कवि ने एक ही सामग्री को दो स्थानों पर उपयोग करने का विचार पहले ही कर लिया था और शायद दोनों रचनाएँ भी एक समय की हैं। हो सकता है कि रसमंजरी की रचना पहले हुई हो और रूपमंजरी लिखते समय उमंग में जैसे-जैसे स्थल आते गये, वैसे-वैसे दोहे-चौपाइयाँ रसमंजरी से ले लिये गये।

रसमजरी पर लिखते हुए "नन्ददास" के सम्पादक उमाशंकर शुक्ल कहते हैं—"रसमंजरी भाषा-साहित्य में कदाचित् नायिका-भेद का पहला ग्रंथ है। स्वय कवि ने 'रसमंजरी' नामक किसी ग्रंथ के अनुसरण करने का उल्लेख किया है। संस्कृत कवि भानुदत्त मिश्र विरचित 'रसमंजरी' से नन्ददास की 'रसमंजरी' की तुलना करने पर दोनों में बहुत अधिक साम्य मिलता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का अभिप्राय भानुदत्त के ग्रंथ का अनुसरण करने से ही है।

भानुदत्त ने विभिन्न नायिकाओं के लक्षण गद्य में दिये हैं और उनके उदाहरण श्लोकों में। लक्षणों की समीचीनता पर भी उन्होंने शास्त्रीय ढंग के विवेचन किया है। नन्ददास ने इन विस्तारों को एकदम छोड़ दिया है। उन्होंने प्रायः उदाहरणों को ही लिया है।" (भूमिका, ५६३) वास्तव में नायिका-भेद पर संस्कृत में बहुत पहले से लिखा जा रहा था और बहुत कुछ लिखा जा चुका था। सम्भव है कि खोज करने से 'रसमंजरी' (नन्ददास) से पहले का भी कोई भाषा नायिका-भेद उपलब्ध हो जाय। सूरदास के कुछ पदों में स्पष्टतः नायिकाओं का नाम आया है। सम्भव है, उन्होंने भी नायिका-भेद लिखने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह तो स्पष्ट है कि विद्यापति और जयदेव के समय में ही रसशास्त्र भक्तिशास्त्र को प्रौढ़ता दे रहा था और इन कवियों की रचनाओं में 'नायिकाभेद' मिल जाता है। नन्ददास की महत्ता यही है कि उन्होंने स्पष्ट रूप से 'रस का अध्ययन भक्ति की दृष्टि भी अनिवार्य है', इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ऋचा कहती है—रसो वै सः (वह रस है)। वल्लभाचार्य ने एक बार फिर भगवान के रसरूप, आनन्दतत्त्व का महत्त्व घोषित किया। उन्होंने गोपियों की कृष्णकेलि की आध्यात्मिक एवं धार्मिक व्याख्या की और शृङ्गारभाव और देवभाव (अलौकिक मधुररति) को एक जैसी बताते हुए भी इस प्रकार का भेद बतलाया जिस प्रकार का भेद ग्रामसिंह और वन्यसिंह में होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि वल्लभाचार्य मानसी पूजा और वात्सल्य भाव से सेवा के उपासक थे, परन्तु उनके अणुभाष्य ग्रंथ में जो रासपंचाध्यायी और गोपीतत्त्व की व्याख्या हुई थी, बाद को विट्ठलनाथ और अष्टछाप के कवियों ने उसे विशेष रूप से विकसित किया। विट्ठलनाथ गोस्वामी ने श्रीराधाष्टक लिखकर राधा को साम्प्रदायिक छाप दी और 'शृङ्गार रस-मंडन' ग्रंथ में शृङ्गाररस की धार्मिक साधना में उपादेयता स्वीकार की। नन्ददास ने यही काम 'रसमंजरी' लिखकर किया। यही नहीं, उन्होंने अपने सैद्धान्तिक कथा

ग्रंथ रूपमंजरी में अपनी रसमंजरी की पंक्तियों का स्वतंत्र रूप से उपयोग किया है। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से जो रस है, वही भक्ति-शास्त्र की दृष्टि से अलौकिक भाव है। इसी सिद्धान्त के अनुसार नन्ददास ने भाव, हाव, हेला, रति को भक्तिभावना के विकास का क्रम भी स्वीकार किया है (दे० रूपमंजरी)। जो हो, रसमंजरी और रूप-मंजरी में भाषा-साहित्य में पहली बार हम लौकिक रति और देवरति का एकात्म स्थापित हुआ पाते हैं।

विरहमंजरी का आधार बारहमासा और मेघदूत हैं। मेघदूत में जिस प्रकार यक्ष मेघ को अपना दूत बनाकर उससे प्रियतमा के पास संदेश ले जाने का प्रस्ताव करता है, वैसे ही इस काव्य में विरहिणी ब्रजबाला चन्द्रमा को अपना दूत बनाती है—

परम प्रेम उच्छलन कौ, बढ्यौ जु तनमन मैन
ब्रजबाला विरहिणि यहे, कहति चन्दसौं बैन
अहो चन्द ! रसकंद तु जात आहि उहि देस
द्वारावति नँदनन्द सौं, कहियौ बलि सन्देश

इसके बाद नायिका प्रत्येक मास का नाम लेकर उसकी ऋतु आदि का वर्णन कर अपनी दशा बताती है और कृष्ण से आने की प्रार्थना करती है, जैसे

चैत चलौ जिनि कंत बार बार पाँ परि कह्यौ
निपट असंत बसत, मैन महा मैमंत जहँ
४६

आवहु बलि बैसाख, दुख निदरन, सुखकरन पिय
उपजी मन अभिलाख, बन विहरन गिरिधरन सँग
६१

इस भाव-वर्णन में कवि लोकगीतों के रूप में प्रचलित 'बारहमासा' से बहुत प्रभावित है। 'नल्ह' ने अपने काव्य 'वीसलदेव रासो' में

'बारहमासा' का राजमति के वियोग में उपयोग किया है। इसके बाद हम नन्ददास के काव्य में ही उसका उपयोग पाते हैं, यद्यपि लोक-साहित्य में बारहमासा का बराबर प्रमुख स्थान रहा है। परन्तु 'विरह-मंजरी' केवल चन्द्रसन्देश (चन्द्रदूत) और 'बारहमासा' तक ही सीमित नहीं है। उसमें एक कथा भी है यद्यपि कथासूत्र बहुत हल्का है। ब्रजबाला को ब्रजलीला की सुधि आती है जो नित्य है—

बहुर्यौ ब्रजलीला सुधि आई
जामैं नित्य किसोर कन्हाई
सुपने कोउ दुख पावत जैसे
जागि परे सुख होत है तैसे
तब ही कान्ह बजाई मुरली
मधुर-मधुर पंचम सुर जुरली

वह युवती ब्रजबाला बछड़ा मिलाने के बहाने उस ओर चल देती है जिस ओर से मुरली की ध्वनि आती है। देखती है, कृष्ण चंदन लगाये, पाग पहरे, अद्भुत छवि बनाये पौरि पर खड़े हैं—

इकले प्रान पियारे पाये
निसि के दुख सब ही बिसराये

१६५

उसको देखकर 'गिरिधर पिय' भी हँस दिये, क्योंकि वह तो

'अंतरजामी सब के जिय के'

१६७

यह कथासूत्र भी विरह-सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए ही गढ़ा है। कवि 'विरह' के चार भेद करता है—प्रत्यक्ष, पलकांतर, वनांतर, देशांतर। 'ब्रजबाला' की कथा में उसने देशांतर विरह को ही आधार बनाया है। इसे ही वह "ब्रज कौ विरह" (२००) कहता

है। पुष्टिमार्ग के धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार ब्रज की लीला नित्य है, कृष्ण नित्य किशोर हैं, तब देशांतर विरह उपस्थित ही कैसे हो सकता है? कवि 'देशांतर विरह' की व्याख्या इस प्रकार करता है—

सुनि देशांतर विरह-विनोद, रसिक जनन मन बढ़वन मोद
नन्द सुवन की लीला जिती, मथुरा द्वारापति बहु बिती
सुमिरत तदाकार ह्वै जाहि, यह वियोग इहि विधि ब्रज माहिं
ज्यौं मनिकंठ बाँधि कै कोई, बिसरे बन बन ढूँढ़त सोहि

यहाँ भी ब्रजबाला को द्वारापति लीला की सुधि आती है और वह आकुल हो जाती है—तब नन्दसुवन (जो अंतर्यामी है) उसका भ्रम मिटा देते हैं और अपनी नित्य लीला का उसे आभास देते हैं। इस प्रकार 'ब्रज का विरह' वास्तव में सभ्रम-मात्र है। ब्रज में विरह तो है ही नहीं, नित्य-संयोग है। ब्रज की लीलाओं से जब भक्त दृष्टि हटा लेता है और कृष्ण को अन्य लीलाक्षेत्र मे देखने लगता है, तो एक प्रकार का विरहाभास उसे हो जाता है।

हम बता चुके हैं कि मानमंजरी और अनेकार्थमंजरी साहित्य अथवा धर्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे कोष मात्र हैं। मान-मंजरी को पर्यायवाची शब्दों का कोष समझना चाहिये जो 'अमरकोष' के अनुसरण में लिखा गया है। भूमिका में कवि लिखता है—

गुंथनि नाना नाम की, 'अमरकोस' के भाइ
मानवती के मान पर मिलै अर्थ सब आइ

विचित्रता यह है कि दोहे की पहली पंक्ति में पर्यायवाची शब्द है और दूसरी पक्ति में राधा-कृष्ण की मान-कथा को विकसित किया गया है। राधा मान करती है। सखी उसे मनाने जाती है। उसे नन्दलाल आतुर दिखाई पड़ते हैं। वह वृषभानु के घर आती है। वृषभानु के भवन की सुन्दरता का अच्छा चित्रण हुआ है—

जातरूप के सदन सब, मानिक गच छवि देत
जहाँ तहाँ नर-नारि निज, झाँईं झुकि-झुकि लेत

रूपे की गोसाल तहँ .....

धवल नवल ऊँचे अटा, करत घटा सौं बात
दुति न कहि परै भवन की, सुर भूले दिखि भाँति

वृषभानु के ऐश्वर्य का भी विचक्षण चित्रण किया गया है। सखी वहाँ पहुँचती है जहाँ राधा 'दुग्धफैनसम सेज पर' बैठी है। फिर राधा के अङ्ग-प्रत्यंग का वर्णन है। सखी बड़ी देर तक उसका सौंदर्य ही देखती खड़ी रहती है (१४४), फिर डरती-डरती राधा के पास जाती है। राधा क्रोध से पूछती है—कहाँ फिरती है, कुशल तो है। वह उसके सौंदर्य की प्रशंसा करती हुई कृष्ण की ओर उसकी अनुरक्ति बढ़ाती है। कहती है कि कृष्ण तो तेरी भ्रू भंग-मात्र से काँपते हैं। कृष्ण की प्रशंसा के बहाने नन्ददास कृष्ण-सम्बन्धी-वल्लभ सम्प्रदाय की मान्यताओं पर भी बड़ी चतुरता से प्रकाश डालते हैं (२१२–२८०)। इसके बाद राधा-सखी का वाग्चातुर्य दर्शनीय है। सखी कहती है कि साँझ हो गई, अटवी में कृष्ण अकेले हैं, मान छोड़कर वहाँ चल। वे वंशी में कह रहे हैं—हे प्रानेश्वरी, आओ। अति सर्वत्र भली नहीं होती। अन्त में राधा-माधव का मिलाप होता है। अन्त में नन्ददास की प्रार्थना—

जुगलकिसोर सदा बसहु, 'नन्ददास' हीय
५२८

से ग्रंथ समाप्त होता है। इस प्रकार की योजना से ग्रंथ की सरसता बढ़ गई है।

अनेकार्थ मंजरी ऐसे शब्दों का कोप है जिनके अनेक अर्थ होते हैं। इसकी भूमिका में भी ग्रंथ को धार्मिक पुट देने की चेष्टा की गई है—

एकै वस्तु अनेक ह्वै जगमगात जग-धाम
जिमि कचन तैं किंकिनी, कंकन, कुंडल नाम

२

इस ग्रंथ के भी कुछ दोहों में मानमंजरी के ढंग पर अंतिम दो चरणों या एक चरण में कुछ धर्म सिद्धान्त कहने की चेष्टा की गई है, यद्यपि जो कहा गया है, उसमें उस प्रकार संबद्धता नहीं है, जिस प्रकार 'मानमंजरी' में।

इन दोनों कोष-ग्रन्थों के अध्ययन से यह पता चलता है कि नन्ददास ने भाषा का अच्छा ज्ञान संकलित किया था। यही कारण है कि उनकी भाषा-शैली का सौष्ठव उनकी एकान्त अपनी चीज़ है और वह 'जड़िया' की प्रसिद्धि प्राप्त कर सके हैं। उनका शब्दों का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त और विविध है।

२—श्यामसगाई

श्यामसगाई एक छोटा-सा कथा-ग्रन्थ है। विषय नाम से ही स्पष्ट है। सूरदास ने राधा के साँप द्वारा डसे जाने और कृष्ण के झाड़-फूँक कर उसे अच्छे करने की एक कथा सूरसागर में लिखी है जो इस प्रकार है—

सिर दोहनी चली लै प्यारी
फिरि चितवत हरि हँसे निरखि मुख, मोहन मोहनि डारी
व्याकुल भई, गई सखियनि लौं, ब्रज कौं गये कन्हाई
और अहिर सब कहाँ तुम्हारे, हरिसौं धेनु दुहाई
यह सुनिकै चकित भई प्यारी, धरनि परी मुरझाई
सूरदास सब सखियनि उर भरि, लीन्हीं कुँवरि उठाई
× × सखियन मिलि राधा घर लाईं
देखहु महरि सुता अपनी कौं, कहुँ इहिं कारैं खाई

हम आगैं आवति, यह पाछे, धरिनि परी भहराई।
सिर तै गई दोहनी ढरिकै, आपु रही मुरझाई ॥

स्याम भुजंग डस्यौ हम देखत, ल्यावहु गुनी बुलाई।
रोवति जननि कंठ लपटानी, सूर श्याम गुन गाई ॥
× × × औरै दशा भई छिन भीतर, बोले गुनी नगर तैं।
सूर गारुड़ी गुनकरि थाके, मंत्र न लागत थर तैं ॥

चले सब गारुड़ी पछिताइ।
नैंकहूँ नहिं मंत्र लागत, समुझि काहु न जाइ ॥
बात बूझत सग सखिदनि, कहौ हमहिं बुझाइ।
× × सूर-प्रभु कौं बेगि ल्यावहु, बड़ौ गारुड़ि राइ ॥
नन्दसुवन गारुड़ी बुलावहु।
कह्यौ हमारौ सुनत न कोऊ, तुरत जाहु लै आवहु ॥

ऐसौं गुनी नहीं त्रिभुवन कहुँ, हम जानति हैं नीकै।
आइ जाइ तौ तुरत जियावहि, नैकुँ छुवत उठै जीकैं ॥
देखौ धौं यह बात हमारी, एकहि मंत्र जिवावै।
नन्दमहर को सुत सूरज जौ, कैसेहुँ ह्याँ लौ आवै ॥
× × वेगि चलौ पिय कुँवर कन्हाई।
जा कारन तुम यह बन सेयौ, सो तिय मदन-भुजंगम खाई।
× × × वृषभानु की घरनि जसोमति पुकारयौ ॥
पठै सुत काज कौं कहित हौं लाज तजि, पाइ परिकै महरि करत आरयौ।
प्रात खरिकहिं गई, आइ विहल भई, राधिका कुँवरि कहुँ डस्यौ कारौ।
सुनी यह बात, मैं आई अतुरात, ह्याँ, गारुड़ी बड़ौ है सुत तुम्हारौ।
× × × जसुमति कह्यौ, सुत जाहु कन्हाई।
कुँवरि जिवायैं अतिहिं भलाई ॥
× × हरि गारुड़ी तहाँ तब आये।
यह बानी वृषभानु-सुता सुनि, मन-मन हरप बढ़ाये।

××रोवति महरि फिरति बितरानी।
बार-बार लै कंठ लगावति, अतिहि सिथिल भई बानी॥
नन्दसुवन कै पाइ परी लै, दौरि महरि तब आइ।
व्याकुल भई लाड़िली मेरी, मोहन देहु जिवाइ॥
कछु पढ़ि पढ़ि कर, अंग परस करि, बिष अपनौ लियौ झारि॥
सूरदास प्रभु बड़े गारुड़ी, सिर पर गाई डारि।
×××लोचन दये कुँवरि उघारि।
कुँवर देख्यौ नन्द कौ तब सकुची अंग सम्हारि॥
बात बूझति जननि सौं री कहा है यह आज।
मरत तैं तू बची प्यारी करति है कह लाज॥
तब कहति तोहिं कारै खाई कछु न रहि सुधि गात।
सूरप्रभु तोहिं ज्याइ लीन्ही कही कुँवरि सौं मात॥
(सूरसागर, ना० प्र० सभा, पृ० ८०२-८१२)

जान पड़ता है कि नन्ददास इस सामग्री से परिचित थे। उन्होंने इस पर एक स्वतन्त्र कथा-ग्रन्थ रचने की सम्भावना देखी। फलस्वरूप स्यामसगाई की रचना हुई। एक दिन राधे कुँवरि नन्द के घर खेलने आई। जसुमति ने उसे देखकर मन में सोचा कि यदि यह कन्या श्याम के लिए वधू-रूप में प्राप्त हो, तो अच्छी जोड़ी मिले। उन्होंने एक ब्राह्मणी बुला कर उसे वृषभानु के यहाँ सन्देशा देकर भेजा—

जाइ कहौ वृषभान सौं, करियौ बहु मनुहारि
यह कन्या मैं स्याम कौं, माँगौ गोद पसारि
कि जोरी सोहनी

बरसाने आकर ब्राह्मणी ने यह सन्देशा पहुँचाया परन्तु कीर्ति (राधा की माता) ने इस सम्बन्ध से इन्कार किया—

कीरति उत्तर दयौ, सुहौं नहि करौं सगाई
सुनी राधे कुँवरि, स्याम है अति चरवाई

नन्दढोटा लंगर महा, दधि माखन को चोर
कहत सुनत लज्जा नहीं, करै और तै और
कि लरिका अचपलौ

जब यह इन्कार की बात यशोदा को सुनाई जा रही थी, तब अन्तर्यामी कृष्ण आ गये और माँ से सब पूछ कर कहने लगे—

जौ तुमरे इच्छा यही, उनहीं की हम लैहि
तौ मैं ढोटा नन्द कौ, पाइन परि परि दैहिं
सोच नहि कीजियै

वे मोरमुकुट पहर कर बरसाने के बाग में सखाओं के साथ जा बैठते हैं। वहाँ सखियों के साथ राधा आती है। साक्षात्कार होता है—

मत हरि लीनो स्याम, परी राधे मुरझाई
भई सिथिल सब देह, बात कछु कही न जाई

सखियाँ समझती हैं कि उसे नाग ने काट लिया है, उसे घर ले जाती हैं, वहाँ दुहाई मच जाती है। वहाँ सखी माँ को समझाती है कि यदि कहो तो गोकुल जाकर 'घनस्याम' को ले आऊँ। वह गारुड़ी है। झाड़-फूँक कर अच्छा कर देगा। कीर्ति कहती है—

अरी बीर! चलि, जाउ, कहौ यह बिनती मेरी
जौ जीवैगी कुँवरि, बीर, मैं करिहौं तेरी

सखी गोकुल आकर यशोदा से अनुनय-विनय करती है। नन्दलाल बुलाये जाते हैं। कृष्ण अनजान से बन जाते हैं। बड़ी शर्त के साथ जाने को राजी होते हैं। वहाँ पहुँच कर—

दरस-फूँक दै विष हरयौ, निज सनमुख बैठाइ

राधा-कृष्ण को सामने बैठा देखकर संकुचित हो जाती है। दोनों की प्रीति देखकर कीर्ति सगाई कर देती है। अंतिम पद है—

सुनत सगाई स्याम ग्वाल सब अंगनि फूले
नाचत-गावत चले, प्रेमरस भै अनुकूले
जसुमति-रानी घर सज्यौ, मोतिन चोक पुराइ
बँटत बधाई नन्द के, 'नन्ददास' बलि जाइ
किँ जोरी सोहनी

स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि केवल कथा पर है। विशेष साहित्यिकता का ध्यान उसे नहीं है। हाँ, यह पता चलता है कि थोड़े से कथासूत्र के आधार पर नन्ददास अच्छी खासी इमारत खड़ी कर सकते थे। वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा स्वकीया हैं। सूरदास ने रास से पहले उनके विवाह की योजना की है। सूरदास के शिष्य नन्ददास और आगे बढ़कर सगाई भी करा देते हैं।

३—भँवरगीत

भँवरगीत नन्ददास की एक बहुत प्रसिद्ध रचना है उतनी ही प्रसिद्ध, जितना सूरदास का 'भ्रमरगीत'। अष्टछाप के ही कितने कवियों के 'भ्रमरगीत' उपलब्ध हैं और वैसे तो 'भ्रमरगीत' लिखने की प्रथा हमारे समय तक चली आती है।

'भ्रमरगीत' की कथा का आधार भागवत दशमस्कंध अध्याय ४७वें की कथा है। नन्ददास ने कृष्ण द्वारा उद्धव को व्रजयात्रा की आज्ञा, व्रजयात्रा, नन्दबाबा के घर उनका स्वागत, गोपियों का रथ देखकर संभ्रम आदि प्रसंग छोड़ दिये हैं। उन्होंने जितनी कथा का आधार लिया है, उतनी कथा की ही हम यहाँ तुलना करेंगे। भागवत में "उद्धव-गोपी-सम्वाद और भ्रमरगीत" इस प्रकार है—

'उद्धवजी! हम जानती हैं कि आप हमारे व्रजनाथ—नहीं, नहीं यदुनाथ के पार्षद हैं। उन्हीं का सन्देशा लेकर यहाँ पधारे हैं। आपके स्वामी ने अपने माता-पिता को सुख देने के लिए आपको यहाँ भेजा

है। नहीं तो, अब इस नन्दगाँव में गौओं के रहने की जगह में ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसका वे वहाँ बैठे-बैठे स्मरण करें? पर इतनी बात तो सच है कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी अपने सगे-सम्बन्धियों का स्नेह बन्धन बड़ी कठिनाई से छोड़ पाते हैं। इसलिए माता-पिता की याद तो श्रीकृष्ण को भी आती ही होगी। अपने माता-पिता जैसे घनिष्ट सम्बन्धियों को छोड़कर जो दूसरों के साथ प्रेम-सम्बन्ध किया जाता है, वह तो किसी-न-किसी स्वार्थ के लिए ही होता है। जब तक अपना मतलब नहीं निकल जाता, तब तक प्रेम का स्वाँग किया जाता है; काम निकला और प्रेम का दिवाला हुआ। भौंरों का पुष्पों से और पुरुषों का स्त्रियों से ऐसा ही स्वार्थ का प्रेम सम्बन्ध होता है। जहाँ देखो, संसार में स्वार्थ-जन्य प्रेम का ही बोलबाला है। देखो न, जब वेश्या समझती है कि अब मेरे यहाँ आने वाले के पास धन नहीं है, तो उसे वह धता बता देती है। जब प्रजा देखती है कि यह राजा हमारी रक्षा नहीं कर सकता, तब वह उसका साथ छोड़ देती है। अध्ययन समाप्त हो जाने पर कितने शिष्य अपने आचार्यों की सेवा करते हैं? यज्ञ की दक्षिणा मिली कि ऋत्विज लोग चलते बने। जब वृक्ष पर फल नहीं रहते, तब पक्षीगण वहाँ से बिना कुछ सोचे-विचारे उड़ जाते हैं। भोजन कर लेने के बाद अतिथि लोग ही गृहस्थ की ओर कब देखते हैं? वन में आग लगी कि पशु भाग खड़े हुए। चाहे स्त्री के हृदय में कितनी भी आसक्ति हो, व्यभिचारी पुरुष अपना काम बना लेने के बाद उलट कर भी तो नहीं देखता। हाँ तो उद्धवजी! संसार के प्रेम-सम्बन्ध ऐसे ही होते हैं। परीक्षित! गोपियों के मन, वाणी और शरीर श्रीकृष्ण में ही तल्लीन थे। जब भगवान् श्रीकृष्ण के दूत बनकर उद्धवजी ब्रज में आये, तब वे उनसे इस प्रकार कहते-कहते यह भूल ही गईं कि कौन-सी बात किस तरह किसके सामने कहनी चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने बचपन से लेकर किशोर अवस्था तक जितनी भी लीलाएँ की थीं, उन सब की याद कर-करके गोपियाँ उनका

गायन करने लगीं। उनके हृदय में एक एक करके जितनी भी स्मृतियाँ जगतीं, रुलाए बिना न छोड़तीं। वे आत्म-विस्मृत होकर स्त्री-सुलभ लज्जा को भी भूल गयीं और फूट-फूट कर रोने लगीं। एक गोपी को उस समय स्मरण हो रहा था भगवान् श्रीकृष्ण के मिलने की लीला का। उसी समय उसने देखा कि पास ही एक भौंरा गुनगुना रहा है। उसने ऐसा समझा मानो मुझे रूठी हुई समझ कर श्रीकृष्ण ने मनाने के लिए इसे भेजा हो। वह गोपी भौंरे से इस प्रकार कहने लगी।

गोपी ने कहा—मधुकर! तू कपटी का सखा है, इसलिए तू भी कपटी है। तू हमारे पैरों को मत छू। झूठे प्रणय करके हमसे अनुनय विनय मत कर। हम देख रही हैं कि श्रीकृष्ण की जो वनमाला हमारी सौतों के वक्षस्थल के स्पर्श से मसली हुई है, उसका पीला पीला कुंकुम तेरी मूँछों पर भी लगा हुआ है। तू स्वय भी तो किसी कुसुम से प्रेम नहीं करता, यहाँ से वहाँ उड़ा करता है। जैसे तेरे स्वामी, वैसा तू! मधुपति श्रीकृष्ण मथुरा की मानिनी नायिकाओं को मनाया करें; उनका वह कुंकुम रूप कृपा-प्रसाद, जो यदुवंशियों की सभा में उपहास करने योग्य है, अपने ही पास रक्खें। उसे तेरे द्वारा यहाँ भेजने की क्या आवश्यकता है? जैसा तू काला है, वैसे ही वे भी निकले। देख तो, उन्होंने हमें केवल एक बार—हाँ ऐसा ही लगता है—केवल एक बार अपनी तनिक सी मोहिनी और परम मादक अधर-सुधा पिलाई थी और फिर हम भोली-भाली गोपियों को छोड़ कर वे यहाँ से चले गये। पता नहीं, सुकुमारी लक्ष्मी उनके चरण-कमलों की सेवा कैसे करती रहती हैं। अवश्य ही वे छैल-छबीले श्रीकृष्ण की चिकनी-चिपुड़ी बातों में आ गई होंगी। चितचोर ने उनका भी चित चुरा लिया होगा। अरे भ्रमर! हम वन-वासिनी हैं। हमारे तो घर-द्वार भी नहीं है। तू हम लोगों के सामने यदुवशशिरोमणि श्री कृष्ण का बहुत-सा गुणगान क्यों कर रहा है? यह सब कला हम लोगों को

मनाने के लिए ही तो ! परन्तु नहीं—नहीं, वे हमारे लिए कोई नये नहीं हैं। तेरी चापलूसी हमारे पास नहीं चलेगी। तू जा, यहाँ से चला जा और जिनके साथ सदा विजय रहती है, उन श्रीकृष्ण की मधुपुर-वासिनी सखियों के सामने जाकर उनका गुणगान कर। वे नयी हैं, उनकी लीलाएँ कम जानती हैं और इस समय वे उनकी प्यारी हैं, उनके हृदय की पीड़ा उन्होंने मिटा दी है; वे तेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगी, तेरी चापलूसी से प्रसन्न हो तुझे मुँहमागी वस्तु देंगी। भौंरे! वे हमारे लिए छटपटा रहे हैं, ऐसा तू क्यों कहता है ! उनकी कपट-भरी मनोहर मुसकान और भौंहों के इशारे से जो वश में न हो जाय, उनके पास दौड़ी न आवे—ऐसी कौन सी स्त्रियाँ हैं ? अरे अनजान ! स्वर्ग मे, पाताल में, और पृथ्वी में ऐसी एक भी स्त्री नहीं है। औरों की तो बात ही क्या, स्वयं लक्ष्मी जी भी उनके चरण-रज की सेवा किया करती हैं। फिर हम श्रीकृष्ण के लिए किस गिनती में हैं ? परन्तु तू उनके पास जाकर कहना कि 'तुम्हारा नाम तो उत्तम श्लोक' है, अच्छे अच्छे लोग तुम्हारी कीर्ति का गायन करते हैं; परन्तु इसकी सार्थकता तो इसी में है कि तुम दोनों पर दया करो। नहीं तो श्रीकृष्ण ! तुम्हारा 'उत्तम श्लोक' नाम झूठा पड़ जाता है। अरे मधुकर ! देख, तू मेरे पैर पर सिर मत टेक। मैं जानती हूँ कि तू अनुनय-विनय करने में, क्षमा-याचना करने में बड़ा निपुण है। मालूम होता है तू श्रीकृष्ण से ही यह सीखकर आया है कि रूठे हुए को मनाने के लिए दूत को—सन्देशवाहक को कितनी चाटुकारिता करनी चाहिए। परन्तु तू समझ ले कि यहाँ तेरी दाल नहीं गलने की। देख, हमने श्रीकृष्ण के लिए ही अपने पति, पुत्र और दूसरे लोगों को छोड़ दिया। परन्तु उनमें तनिक भी कृतज्ञता नहीं। वे ऐसे निर्मोही निकले कि हमें छोड़कर चलते बने। अब तू ही बता, ऐसे अकृतज्ञ पर हम क्या विश्वास करें ? ऐ रे मधुप ! शायद तुझे इस बात का पता न हो, हम तो उनके जन्म-जन्म की बात जानती हैं कि वे कितने निठुर हैं। जब वे राम बने थे,

तब उन्होंने कपिराज बालि को व्याध के समान छिप कर बड़ी निर्दयता से मारा था। बेचारी शूर्पणखा कामवश उनके पास आयी थी, परन्तु उन्होंने अपनी स्त्री के वश होकर उस बेचारी के नाक-कान काटि लये और इस प्रकार उसे कुरूप कर दिया। जाने दो उस समय की बात, ब्राह्मण के घर वामन के रूप में जन्म लेकर उन्होंने क्या किया? बलि ने तो उनकी पूजा की, उनकी मुँहमाँगी वस्तु दी और उन्होंने क्या किया? उसकी पूजा ग्रहण करके भी उसे वरुणपाश से बाँधकर पाताल में डाल दिया। ठीक वैसे ही, जैसे कौआ बलि खाकर भी बलि देने वाले को अपने अन्य साथियों के साथ मिल कर घेर लेता है और परेशान करता है। अच्छा, तो अब जाने दें; हमें कृष्ण से क्या, किसी भी काली वस्तु से कोई प्रयोजन नहीं है। हम कालो की मित्रता से बाज आईं। परन्तु यदि तू यह कहे कि 'जब ऐसा है बात तुम लोग उनकी चर्चा क्यों करती हो? तो भ्रमर! हम सच कहती हैं, एक बार जिसे उसका चसका लग जाता है, वह उसे छोड नहीं सकता। ऐसी दशा में हम चाहने पर भी उनकी चर्चा छोड़ नहीं सकतीं। क्या करें? देख न, श्रीकृष्ण की लीला रूप अमृत की कुछ बूँद जिसके कानों में पड़ जाती हैं, जो उसके एक कण का भी रसास्वादन कर लेता है, उसके राग-द्वेष आदि सारे द्वन्द्व छूट जाते हैं। संसार के सुख-दुःख उसके सामने से भाग खड़े होते हैं। यहाँ तक कि बहुत से लोग अपनी दुःखमय—दुःख से सनी हुई घर गृहस्थी छोड़ कर अकिंचन हो जाते हैं, अपने पास कुछ भी सग्रह-परिग्रह नहीं रखते, और पक्षियों की तरह चुन-चुनकर—भीख माँग कर अपना पेट भरते हैं, दीन-दुनिया से जाते रहते हैं। फिर भी श्रीकृष्ण की लीला-कथा छोड़ नहीं पाते। वास्तव में उसका रस, उसका चसका ऐसा ही है। यही दशा हमारी हो रही है। जैसे कृष्णसार मृग की पत्नी भोली-भाली हरिनियाँ व्याध के सुमधुर गान का विश्वास कर लेती हैं, वैसे ही हम भोली भाली गोपियाँ भी उस छलिया कृष्ण की मीठी-मीठी

बातों में आकर उन्हें सत्य के समान मान बैठीं और उनके नखस्पर्श से होने वाली काम-व्याधि का बार-बार अनुभव करती रहीं। इसलिए इस विषय में तू और कुछ मत कह। तुझे कहना ही हो तो कोई दूसरी बात कह। (इतने में ही भौंरा उड़ कर दूसरी ओर चला जाता है और तुरन्त ही फिर लौट आता है। उसे लौटा हुआ देख कर गोपी फिर कुछ आदर से कहने लगती है—) हमारे प्रियतम के प्यारे सखा! जान पड़ता है तुम एक बार उधर जा कर फिर लौट आए हो। अवश्य ही हमारे प्रियतम ने मनाने के लिए तुम्हें भेजा होगा। प्रिय भ्रमर! तुम सब प्रकार से हमारे माननीय हो। कहो तुम्हारी क्या इच्छा है? हमसे जो चाहो, सो माँग लो। अच्छा, तुम सच बताओ, क्या हमें वहाँ ले चलना चाहते हो? अजी, उनके पास जाकर लौटना बड़ा कठिन है। हम तो उनके पास जा चुकी हैं। परन्तु तुम हमें वहाँ ले जाकर करोगे क्या? प्यारे भ्रमर! तनिक समझदारी से काम लो। उनके साथ—उनके वक्षःस्थल पर तो उनकी प्यारी पत्नी लक्ष्मी जी सदा रहती है न? तब वहाँ हमारा निर्वाह कैसे होगा? अच्छा, हमारे प्रियतम के प्यारे दूत मधुकर! हमें यह बतलाओ कि आर्यपुत्र भगवान श्रीकृष्ण गुरुकुल से लौट कर मधुपुरी में अब सुख से हैं न? क्या वे कभी नन्दबाबा, यशोदा रानी, यहाँ के घर, सगे-सम्बन्धी और ग्वाल-बालों की भी याद करते हैं? और क्या हम दासियों की भी कोई बात कभी चलाते हैं? प्यारे भ्रमर! हमें यह भी बतलाओ कि कभी वे अपनी अगर के समान सुगन्ध से युक्त भुजा हमारे सिरों पर रक्खेंगे? क्या हमारे जीवन में कभी ऐसा शुभ अवसर भी आवेगा? ॥१२—२१॥ × × × उद्धव जी ने कहा— × × × भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—मैं सबका उपादान कारण होने से सबका आत्मा हूँ; इस लिए मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जैसे संसार की सभी वस्तुओं में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों भूत व्याप्त हैं, इन्हीं से सभी वस्तुएँ बनी हैं और यही उन वस्तुओं

के रूप में है; वैसे ही मैं मन, प्राण, पंचभूत, इन्द्रिय और उनके विषयों का आश्रय हूँ। वे मुझमें हैं, मैं उनमें हूँ और सच पूछो तो मैं ही उनके रूप में प्रगट हो रहा हूँ। मैं ही अपनी माया के द्वारा भूत, इन्द्रिय और उनके विषयों के रूप में होकर उनका आश्रय बन जाता हूँ तथा स्वयं निमित्त भी होकर अपने आपको ही रचता हूँ, पालता हूँ और समेट लेता हूँ। आत्मा माया और माया के कार्यों से पृथक है। वह विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप जड़ प्रकृति अनेक जीव तथा अपने ही अवान्तर भेदों से रहित सर्वथा शुद्ध है। कोई भी गुण उसका स्पर्श नहीं कर पाते। माया की तीन वृत्तियाँ हैं—सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत। इनके द्वारा वही अखण्ड, अनन्त बोध-स्वरूप आत्मा कभी प्राज्ञ, तो कभी तैजस और कभी विश्वरूप से प्रतीत होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह समझे कि स्वप्न में दीखने वाले पदार्थों के समान ही जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के विषय भी प्रतीत हो रहे हैं, वे मिथ्या हैं इसीलिए उन विषयों के चिन्तन करने वाले मन और इन्द्रियों को रोक लें और मानो सोकर उठा हो, इस प्रकार जगत के स्वाविक विषयों को त्याग कर मेरा साक्षात्कार करे। जिस प्रकार नदियाँ घूम-फिर कर समुद्र ही में पहुँचती हैं उसी प्रकार मनस्वी पुरुषों का वेदाभ्यास, योग-साधन, आत्मानात्मविवेक, त्याग, तपस्या इन्द्रिय-सयम और सत्य आदि समस्त धर्म, मेरी प्राप्ति मैं ही समाप्त होते हैं। सबका सच्चा फल है मेरा साक्षात्कार। क्योंकि वे सब मन को निरुद्ध करके मेरे पास पहुँचाते हैं। २९—३३॥

गोपियों! इसमें सन्देह नहीं कि मैं तुम्हारे नयनों का ध्रुवतारा हूँ। तुम्हारा जीवन-सर्वस्व हूँ। किन्तु मैं जो तुमसे इतना दूर रहता हूँ उसका कारण है। वह यही कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान कर सको, शरीर से दूर रहने पर भी मन से तुम मेरी सन्निधि का अनुभव करो, अपना मन मेरे पास रक्खो। क्योंकि स्त्रियों और अन्यान्य प्रेमियों का चित्त अपने परदेशी प्रियतम में जितना निश्चल भाव से लगा रहता

है उतना आँखों के सामने, पास रहने वाले प्रियतम में नहीं लगता। इस प्रकार जब तुम लोग मेरे ही स्मरण-चिन्तन में मग्न हो जाओगी तभी तुम्हारे चित्त की वृत्तियाँ कहीं नहीं जायँगी, सारी शान्त हो जायँगी। तब तुम्हारा पूरा मन मुझमें प्रवेश कर जायगा और तुम लोग नित्य निरन्तर मेरे अनुस्मरण में मग्न रह कर शीघ्र से शीघ्र मुझे सदा के लिए पा लोगी। तब फिर मेरा और तुम्हारा वियोग कभी न होगा। तुम तो जानती ही हो, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। कल्याणियों! जिस समय मैंने वृन्दावन में शारदीय पूर्णिमा की रात्रि में रासक्रीड़ा की थी उस समय जो गोपियाँ स्वजनों के रोक लेने से व्रज में ही रह गईं—मेरे साथ-साथ—विहार में सम्मिलित न हो सकी, वे मेरी लीलाओं का स्मरण करने से ही मुझे प्राप्त हो गयी थीं। तुम्हें भी मैं मिलूँगा अवश्य, निराश होने की कोई बात नहीं है ॥ ३४—३७ ॥

श्री शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अपने प्रियतम श्रीकृष्ण का यह संदेशा सुनकर गोपियों को बड़ा आनन्द हुआ। उनके संदेश से उन्हें श्रीकृष्ण के स्वरूप और एक-एक लीला की याद आने लगी। प्रेम से भरकर उन्होंने उद्धवजी से कहा॥ ३८ ॥

गोपियों ने कहा—उद्धवजी! यह बड़े सौभाग्य की और आनन्द की बात है कि यदुवंशियों को सतानेवाला पापी कंस अपने अनुयायियों के साथ मारा गया। यह भी कम आनन्द की बात नहीं है कि श्रीकृष्ण के बन्धु-बान्धव और गुरुजनों के सारे मनोरथ पूर्ण हो गये तथा अब हमारे प्यारे श्यामसुन्दर उनके साथ सकुशल निवास कर रहे हैं। किन्तु उद्धवजी! एक बात आप हमें बताइये। जिस प्रकार हम अपनी प्रेम-भरी लजीली मुसकान और उन्मुक्त चितवन से उनकी पूजा करती थी और वे भी हमसे प्यार करते थे, उसी प्रकार मथुरा की। स्त्रियों से भी वे प्रेम करते हैं या नहीं? तब तक दूसरी गोपी बोल उठी—अरी सखी! तू यह क्या पूछती है? हमारे प्यारे श्यामसुन्दर तो प्रेम की मोहिनी कला के विशेषज्ञ हैं न! सभी श्रेष्ठ स्त्रियाँ उनसे प्यार करती

हैं, प्यार किये बिना रह नही सकतीं। फिर भला जब नगर की स्त्रियाँ उनसे मीठी-मीठी बातें करेंगी और हाव-भाव से उनकी ओर देखेंगी तब वे उन पर क्यों न रीझेंगे?' दूसरी गोपियाँ बोलीं—'अजी, जाने दो इन बातों को। उद्धवजी! आप तो बड़े परोपकारी हैं? आप यह तो बतलाइये कि जब कभी पुर-नारियों की मण्डली मे कोई बात चलती है और हमारे प्यारे स्वच्छन्द रूप से, बिना किसी संकोच के जब प्रेम की बातें करने लगते हैं तब क्या कभी हम गवाँर ग्वालियों की भी याद करते हैं?' कुछ गोपियों ने कहा—'उद्धवजी! हमें तो उन बातों की बड़ी याद आती है। क्या कभी श्रीकृष्ण भी उन रात्रियों का स्मरण करते हैं, जब कुमुदनी तथा मोंगरे के पुष्प खिले हुए थे, चारों ओर चाँदनी छिटक रही थी और वृन्दावन अत्यन्त रमणीय हो रहा था। उन रात्रियों मे ही उन्होंने रास-मण्डल बनाकर हम लोगों के साथ नृत्य किया था। कितनी सुन्दर थी वह रासलीला! अजी, हम लोगों के नूपुर की ध्वनि ने ही बड़े बड़े बाजों को मात कर दिया था। हम लोग उन्हीं की सुन्दर-सुन्दर लीलाओं का गायन कर रही थीं और वे हमारे साथ नाना प्रकार के विहार कर रहे थे।' कुछ दूसरी गोपियाँ बोल उठी—'उद्धवजी! हम सब तो उन्हीं के विरह की आग से जल रही हैं। देवराज इन्द्र जैसे जल बरसा कर वन को हरा-भरा कर देते हैं, उसी प्रकार क्या कभी श्रीकृष्ण भी अपने कर-स्पर्श आदि से हमें जीवनदान देने के लिए यहाँ आवेंगे?' तब तक एक गोपी ने कहा—'अरी सखी! तू तो बहुत भोली है। अब तो उन्होंने शत्रुओं को मार कर राज्य पा लिया है। जिसे देखो, वही उनका सुहृद बना फिरता है। अब वे बड़े-बड़े नरपतियों की कुमारियों से विवाह करेंगे, उनके साथ आनन्द-पूर्वक रहेंगे, यहाँ हम गँवारिनों के पास क्यों आवेंगे?' दूसरी गोपी ने कहा—'नहीं सखी, श्रीकृष्ण तो स्वयं लक्ष्मीपति हैं। उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण ही हैं, वे कृतकृत्य हैं। हम वनवासिनी ग्वालिनों अथवा दूसरी राजकुमारियों से उनका कोई प्रयोजन

नहीं है । हम लोगों के बिना उनका कौन सा काम अटक रहा है ! देखो वेश्या होने पर भी पिंगला ने क्या ही ठीक कहा है—ससार में किसी की आशा न रखना ही सबसे बड़ा सुख है । यह बात हम जानती हैं, फिर भी हम भगवान श्रीकृष्ण के लौटने की आशा छोड़ने में असमर्थ हैं । उनके शुभागमन की आशा ही तो हमारा जीवन है । हमारे प्यारे श्यामसुन्दर ने, जिनकी कीर्ति का गायन बड़े बड़े महात्मा करते रहते हैं, हमसे एकान्त में जो मीठी-मीठी प्रेम की बाते की हैं उन्हें छोड़ने का, भुलाने का उत्साह भी हम कैसे कर सकती हैं ? देखो तो, उनकी इच्छा न होने पर भी स्वयं लक्ष्मी जी भी उनके चरणों से लपटी रहती हैं, एक क्षण के लिए भी उनका अंग-संग छोड़ कर कहीं भी नहीं जाती । उद्धवजी ! यह वही नदी है, जिसमें वे विहार करते थे । यह वही पर्वत है, जिनके शिखर पर चढ़ कर वे बाँसुरी बजाते थे । ये वे वन हैं, जिनमें वे रात्रि के समय रासलीला करते थे, और ये वे ही गौयें हैं, जिनको चराने के लिए वे सुबह शाम हम लोगों के देखते हुए आते-जाते थे । और यह ठीक वैसी ही बंशी की तान हमारे कानों में गूँजती रहती है, जैसी वे अपने अधरों के संयोग से छेड़ा करते थे । बलराम जी के साथ श्रीकृष्ण ने इन सभी का सेवन किया है । यहाँ का एक-एक प्रदेश, एक-एक धूल-कण उनके परम सुन्दर चरण-चिह्नों से चिन्हत है । उन्हें जब जब हम देखती हैं, सुनती हैं— दिन भर यही तो करती रहती हैं—तब तब वे हमारे प्यारे श्यामसुन्दर नन्दनन्दन को हमारे नेत्रों के सामने लाकर रख देते हैं । उद्धजी ! हम किसी भी प्रकार—मरकर भी हम उन्हें भूल नहीं सकतीं । उनकी वह हंस की-सी सुन्दर चाल, उन्मुक्त हास्य, विलासपूर्ण चितवन और मधुमयी वाणी ! ओह ! उन सबने हमारा चित्त चुरा लिया है । हमारा मन हमारे वश में नहीं है ! अब हम उन्हें भूलें तो किस तरह ? हमारे प्यारे श्रीकृष्ण ! तुम्हीं हमारे स्वामी हो ! सर्वस्व हो । प्यारे ! तुम लक्ष्मी-नाथ हो तो क्या हुआ ? हमारे लिए तो ब्रजनाथ ही हो न ! हम ब्रज

गोपियों के एकमात्र तुम्हीं सच्चे स्वामी हो। श्यामसुन्दर! तुमने बार-बार हमारी व्यथा मिटाई है, हमारे संकट काटे हैं। गोविन्द, तुम गौओं से बहुत प्रेम करते हो। क्या हम गौयें नहीं हैं? तुम्हारा यह सारा गोकुल—जिसमें ग्वाल-बाल, माता-पिता, गौयें और हम गोपियाँ, सब कोई हैं—दुःख के अपार सागर में डूब रहा है। तुम इसे बचाओ, आओ, हमारी रक्षा करो ॥ ३९–५२ ॥

श्री शुकदेव जी कहते हैं—प्रिय परीक्षित्! भगवान श्रीकृष्ण का प्रिय सन्देह सुनकर गोपियों के विरह की व्यथा शान्त हो गयी थी। वे इन्द्रियातीत भगवान श्रीकृष्ण को अपने आत्मा के रूप में सर्वत्र स्थित समझ चुकी थीं। अब वे बड़े प्रेम और आदर से उद्धवजी का सत्कार करने लगीं। उद्धवजी गोपियों की विरह-व्यथा मिटाने के लिए कई महीनों तक वहाँ रहे।

नन्ददास ने इस सारे प्रसग को एक नये कलात्मक ढंग से उपस्थित किया है। 'सौष्ठव' की दृष्टि से भँवरगीत की सामग्री को इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१) भूमिका—ऊधो कहते हैं कि स्याम ने उनके हाथ एक संदेश भेजा है। उसे कहने का अवसर उन्हें अब तक नहीं मिल सका था। अब वे उसे कह कर मधुपुरी लौट जाना चाहते हैं (१–१०)

(२) 'स्याम' का नाम सुनते हुए गोपियों की विह्वल प्रेम-दशा (१०–१३)

(३) गोपियाँ सत्कार कर उद्धव को बैठाती हैं और कुशल-क्षेम पूछती हैं (१५–२०)

(४) ऊधौ कहते हैं कि कृष्ण मथुरा से ब्रज आयेंगे (२०–२५)

(५) गोपियों की रूपासक्ति और मूर्च्छा (२५–३०)

(६) ऊधो-गोपी सम्वाद (३१–१४०)। एक पद में ऊधो का तर्क, दूसरे में गोपियों का, इसी तरह सारा सम्वाद निर्गुण-सगुण, योग और प्रेम के द्वन्द्व पर आश्रित है।

(७) अकस्मात गोपियों को कृष्णरूप का साक्षात्कार हो गया। गोपियाँ उनके प्रति विनय और उलाहना के शब्द कहने लगीं (१४१–२१०)।

(८) गोपियों के परम प्रेमभाव को देखकर ऊधो का 'नेम' भाग गया। वे उन्हें बंदना-योग्य समझ कर कृतार्थ हो गये। स्वयं गोपियों के प्रेमरस के याचक बन गये (२११–२२०)।

(९) उसी समय एक भ्रमर कहीं से उड़ता आ गया और उसको लक्ष्य कर गोपियाँ उद्धव को उपालंभ देने लगीं (२२१–२९५)।

(१०) गोपियाँ विलाप करने लगीं (२९५–३०५)।

(११) ऊधो की लज्जा ग्लानि और गोपियों की प्रेमासक्ति की स्वीकृति (३०५–३४५)। ऊधो कहते हैं—

> अब ह्वै रहौं ब्रजभूमि की मारग मैं की धूरि
> विचरत पग मोपै परैं, सब सुख जीवन मूरि
>
> मुनिन हू दुर्लभै
>
> कै हौं ह्वै रहौं गुल्मलता, बेली बन माहीं
> आवत-जात सुपाउ, परै मोपै परछाहीं

अन्त में वे मथुरा लौट जाते हैं।

(१२) ऊधो कृष्ण से ब्रजवनिताओं के प्रेम की कथा सुनाते हैं और उनकी निर्दयता के कारण उन पर क्रोध करते हैं (३४६–३६०)।

(१३) गोपियों की प्रेम-दशा सुनकर कृष्ण विह्वल हो जाते हैं। उनका रोमरोम गोपी हो जाता है। फिर वे स्वय गोपीरूप में प्रगट होते हैं। इस प्रकार वे उद्धव को बतलाते हैं कि उनमे और गोपियों में कोई अन्तर नहीं है—

मो मैं उनमैं अंतरौ, एकौ छिन भरि नाहिं
ज्यौं देखौ मो माँझ वे, त्यौं मैं उनही माहिं

तरगनि वारि ज्यौं ३७०

इस प्रकार प्रसंग समाप्त होता है। ऊधो का भ्रम दूर हो जाता है।

भागवत से उद्धृत कथा से इसे विश्लेषण की तुलना करने पर हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि नन्ददास ने सारी सामग्री को नये ढंग से ही नहीं रखा है, उन्होंने अनेक अंगों का नवीन रूप से स्वतंत्र विकास किया है। नन्ददास कथा को नाटकीय ढंग से उपस्थित करते हैं, ऐसा करना उनके लिए अवश्यक था क्योंकि वे एक खंड-काव्य की सृष्टि कर रहे थे। भागवत में उद्धव स्वयम् सन्देशे की बात नहीं करते, यद्यपि गोपियाँ जानती हैं कि वे कृष्ण का सन्देशा लेकर पधारे हैं इसलिये वहाँ वह सामग्री अनुपस्थित है जो नन्ददास ने भूमिका में रखी है। (१) से (६) तक की सामग्री का भी भागवत में अभाव है, इस सब की योजना स्वय कवि की कल्पना ने की है। वास्तव में कवि ने भागवत कथित उद्धव के सन्देश (२८-३७) के स्थान पर ही गोपी उद्धव-सम्वाद रखा है. परन्तु दोनों में मौलिक भेद। एक तो भागवत में यह प्रसग उपदेश का रूप रखता है, पाण्डित्यपूर्ण तर्क वितर्क का इसमें कोई स्थान नहीं है, यद्यपि मूल विचार, निर्गुण ब्रह्म के पक्ष में एक ही है—भगवान कृष्ण ने कहा है—

"मैं सबका उपादान कारण होने से सब का आत्मा हूँ, सब में अनुगत हूँ, इसलिए मुझमे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता।"

(श्लो० २९)

वे तुमतें नहिं दूरि, ग्यान की आँखिन देखौ
अखिल विश्व भरपूरि, ब्रह्म सब रूप विसेखौ

लौह, दारु, पासान मैं, जलथल माहिं अकास
सचर, अचर बरतत सबै, जोति ब्रह्म परकास
सुनौ ब्रजवासिनी

दूसरा अन्तर यह है कि भागवत में (३०-३५) भ्रमर को उपालंभ एक ही गोपी से दिलाया गया है जो गोपी-समूह का प्रतिनिधित्व करती है—"एक गोपी को उस समय स्मरण हो रहा था भगवान श्रीकृष्ण के मिलन की लीला का। उसी समय उसने ऐसा समझा मानो मुझे रूठी हुई समझ कर श्रीकृष्ण ने मनाने के लिए दूत भेजा हो" (श्लो० ११)

नन्ददास के काव्य में कई गोपियाँ पृथक-पृथक उपालंभ देती हैं (२३०-२६५)।

भागवत में इस उपालंभ द्वारा गोपियों के प्रेमासक्त हृदय का स्वाभाविक चित्रण हो सका है। नन्ददास भ्रमर के 'बैठयो चाहत पांउ पै'—प्रसंग से ऊधो की भावी पराजय को इंगित करते हैं।

मन मधुकर ऊधौ भयौ, प्रथमहि प्रगट्यौ आनि
मधुप को भेष धरि २२५

भागवत में न निर्गुण-सगुण की ही इतनी विशद व्याख्या है, यद्यपि प्रेमासक्ति दिखलाने के लिये सगुणरूप के प्रति गोपियों का मोह चित्रित वहाँ भी है, परन्तु योगसाधना और ज्ञान के प्रति गोपियों के जिस विरोध का दर्शन नन्ददास के काव्य में होता है, उसका आभास भी भागवत में नहीं है। (१०) और (११) की सामग्री नन्ददास में मूल के बिलकुल विपरीत है। भागवत में है—

"अपने प्रियतम श्रीकृष्ण का यह सन्देशा सुनकर गोपियों को बड़ा आनन्द हुआ। उनके सन्देश से उन्हें श्रीकृष्ण के स्वरूप और एक-एक लीला की याद आने लगी।" (श्लो० ३८)

"भगवान श्रीकृष्ण का प्रिय सन्देश सुनकर गोपियों के विरह की व्यथा शान्त हो गई थी। इन्द्रियातीत भगवान श्रीकृष्ण को अपने आत्मा के रूप में सर्वत्र स्थित समझ चुकी थीं। अब वे बड़े प्रेम और आदर से उद्धव जी का सत्कार करने लगीं।" (श्लो० ५३)

ऊधो के मथुरा लौटकर कृष्ण पर क्रोध करने और उनका माया-जन्य भ्रम दूर करने की कथा नन्ददास की मौलिक सूझ है। भागवत तो केवल इतना ही कहती है—"वहाँ (मथुरा) पहुँच कर उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण को प्रणाम किया और उन्हें व्रजवासियों की प्रेममयी भक्ति का उद्रेक, जैसा उन्होंने देखा था, कह सुनाया।" (श्लो० ६६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग सारी कथा नवीन ढंग से बहुत कुछ मौलिक प्रसंगों के साथ उपस्थित की गई है। यह मौलिकता कहाँ कहाँ है, और क्यों है, यह प्रश्न अनुचित नहीं होगा। नन्ददास के भँवरगीत के बीज आधार हैं—

(१) निर्गुण पर सगुण की विजय का तर्कपूर्ण स्थापन।

(२) योगमार्ग और ज्ञानमार्ग की निष्फलता की घोषणा और इन पर प्रेममार्ग की विजय।

(३) गोपियों की रूपासक्ति और प्रेमासक्ति का विशद चित्रण। भागवत में पहले और तीसरे विषय पर लिखा जा चुका है। परन्तु दूसरा विषय परिस्थिति जन्य है। गोरखनाथ के योगमार्ग और संतों के ज्ञानमार्ग के प्रति अवज्ञा और इनका विरोध लक्ष्य है। भागवत में सभी मार्ग स्वीकार कर लिए गये हैं, यद्यपि प्रेममार्ग ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। पुष्टिमार्ग में परम प्रेम-स्वरूप श्रीकृष्ण के साकार रूप लीला की ही प्रेमभावना उपादेय थी। इस प्रकार इस ग्रंथ पर भी सम्प्रदाय की छाप पड़ी है। परन्तु इस छाप को एक दूसरे स्थान पर और भी गहरा पाते हैं। पुष्टिमार्ग के कृष्ण तो नित्य हैं, उनकी व्रजलीला भी नित्य है, इसलिए गोपियों का देशान्तर विरह केवल

भ्रम-जन्य ही हो सकता है। इसी कृष्ण की ब्रज में नित्य अवस्थिति को दिखाने के लिये कवि ने १४०—२१० की सामग्री की योजना की है। साथ ही अन्त में गोपियों और कृष्ण का नित्य एकात्म-भाव दिखलाया गया है। (३६०—३७५)

वास्तव में, नन्ददास भागवत की अपेक्षा सूरदास की रचनाओं से अधिक ऋणी हैं। सूरदास ने तीन भ्रमरगीत लिखे हैं—दो पदबद्ध हैं, एक छन्दबद्ध। इस छन्दबद्ध भ्रमरगीत से नन्ददास विशेष परिचित रहे होंगे, क्योंकि उनके 'भंवरगीत' में इसी के ढाँचे का ही प्रयोग हुआ है। कदाचित् इस मिश्रित छन्द का सर्वप्रथम प्रयोग भी सूरदास ने ही किया हो। सूरदास का यह छन्दबद्ध भ्रमरगीत इस प्रकार है—

"ऊधौ को उपदेश सुनौ किन कान दै ?
सुन्दर श्याम सुजान पठाओ मान दै ॥ध्रुव॥
कोउ आयौ उत तायँ जितै नन्दसुवन सिधारे
वहै वेनुधुनि होय मनो आए नन्द-प्यारे
धाईं सब गहगानि कै ऊधो देखे जाय
हैं आईं ब्रजरास मैं, हो, आनन्द उर न समाय
अरघ, आरती, तिलक दूध-दधि माथे दीन्ही
कंचन कलस भराय आनि परिकरमा कीन्ही
गोप भरि आँगन भई मिलि बैठे यादवजात
जलझारि आगे धरी, हो, बूझति हरि कुसल
कुसल छेम अक्रूर कुसल नीके बलदाऊ
पूछि कुसल गोपाल की रहीं सकल गहि पाय
प्रेम मगन ऊधो भये हो देखत ब्रज को पाय
मन-मन ऊधो कहै यह न बूझिय गोपालहिं
ब्रज के हेतु विसारि जोग सिखवत ब्रजबालहिं
पाती बाचि न आवहि नयन रहे जलपूरि
देखि प्रेम गोपिन के ज्ञान गरब भयो दूरि

तब इत उत बहराय नीर नयनन में सोख्यो
ठानी कथा प्रबोध बोलि सब गुरु समोख्यो
जो व्रत मुनिवर ध्यावहीं पर या नहिं नहिं पार
सो व्रत सीख्यो गोपिका, हो, छाँड़ि विषय विस्तार
सुनि ऊधो के बचन रहीं नीचे करि तारे
मनो सुधा सो सींचि आनि विष ज्वाला जारे
हम अबला कहा जानही जोग जुगति की रीती
नंदनंदन व्रत छाँड़िकै, हो, को लिखि पूजै अविगत
अगह अपार आदि अवगत है सोई
आदि निरंजन नाम ताहि रजै सब कोई
नैन नासिका अग्र है तहाँ ब्रह्म को बास
अविनासी बिनसै नहीं, हो, सहज ज्योति परकास
घर लागै औधूरि कहे मन कहा बँधावै
अपनो घर परिहरै कहो को घरहि बतावै ? इत्यादि"

इस 'भ्रमरगीत' मे पाती की आयोजना है, परन्तु 'भ्रमर' का उल्लेख भी नहीं है। नन्ददास ने 'शैली' इसी भ्रमरगीत की अपनाई है। अन्त में दस मात्रा की एक टेक देकर इसको नया रूप दे दिया है। यह भी नई बात नहीं है। इस छन्द के आगे इस प्रकार की टेक का प्रयोग भी हम सूरदास की अन्य रचना में पाते हैं। नन्ददास ने 'भ्रमरगीत' की रचना में सूरदास के काव्य से बहुत अधिक सामग्री ली है। सूर का दूसरा 'भ्रमरगीत' इस प्रकार है—

हौ तुम पै ब्रजनाथ पठायो
आतम-ज्ञान-सिखावन आयो
आपुहि पुरुष आपुही नारी
आपुहि वानप्रस्थ व्रतधारी
आपुहि पिता, आपुही माता
आपुहि भगिनी, आपुहि भ्राता

आपुहि पंडित आपहु ज्ञानी
आपहु राजा, आपुहि रानी
×× एक राव दूजो नहिं कोय
आपुहि आप निरंजन सोय
यहि प्रकार जाको मन लागौ
जरा, मरन, जी ते भ्रम भागौ
ताहि भजहु किमि सबै सयानी !
खोजत जाहि महामुनि ज्ञानी
जाके रूप रेख कछु नाहीं
नयन मूँद चितवहु चितमाहीं
हृदय कमल में जोति विराजै
अनहद नाद निरन्तर बाजै
इडा-पिंगला सुखमन नारी
शून्य सहज में बसैं मुरारी
मात पिता नहिं दारा भाई
जल-थल घटघट रहे समाई
यहि प्रकार भव दुस्तर तरिहौ
योगपंथ क्रमक्रम अनुसरिहौ
'गोपी वचन' यह, मधुकर,
मुख मूँदहु जाई
हमरे चितवित हरि यदुराई
ब्रजवासिनि गोपाल उपासी
ब्रह्म ज्ञान सुनि आवै हाँसी
अबलौ जोग कबहुँ नहिं आयो
मानो कुब्जा रूपहिं पायो

× × उद्धव कहते हैं—

वह अच्युत अविगत अविनाशी
त्रिगुण रहित वपुधरे न दासी
हे गोपी, सुनु बात हमारी
हौं वह शून्य सुनहु ब्रजनारी
नहि दासी ठकुराइनि कोई
जहँ देखहु तहँ ब्रह्महिं सोई
आपुहि 'औरहिं ब्रह्महिं जानै
ब्रह्म बिना दूसर नहीं मानै

इस पर गोपियाँ कहती हैं—

बार बार ये बचन निवारो
'भक्ति विरोधी' ज्ञान तुम्हारो
होत कहा उपदेसे तेरे
नयन सुयश नाही अलि मेरे !
हरिपथ जोवत निमिष न लागे
कृष्ण वियोगिनि निशिदिन जागे

× × × सैकड़ों पदों में इस प्रकार की ही विचार-धारा और भावना का विकास हुआ है। नन्ददास इस सारी सामग्री से भलीभाँति परिचित थे। अतः वे इसकी एकदम उपेक्षा कैसे करते ! हाँ, इस निन्तात बिखरी सामग्री को एकसूत्र में बाँधने और उसे खंडकाव्य का रूप देने की कुशलता उनकी अपनी चीज है, और इसके लिए उन्हें श्रेय अवश्य ही मिलना चाहिए। एक पद में भी सूरदास ने भ्रमरगीत कहा है—

यह उपदेश कह्यो है माधो
करि विचार सन्मुख है साधौ

इसमें कोई सन्देह नहीं कि नन्ददास से पहले ही 'भवरगीत' का वर्ण्य विषय सूरदास द्वारा अनेक छन्दों में, अनेक प्रकार से विकसित हो गया था। नन्ददास ने यही किया कि उस विचार-विकास को ग्रहण किया और उसे एक सुन्दर सौष्ठवपूर्ण रचना में कला का रूप दे दिया। बाद को कितने ही 'भ्रमरगीत' लिखे गये, परन्तु कोई उस एकता, कलाकुशलता और मार्मिक व्यंजना को न पा सका जो नन्ददास के 'भँवरगीत' में मिलते हैं।

४—रासपचाध्यायी और सिद्धान्तपंचाध्यायी

रासपचाध्यायी की कथावस्तु भागवत दशमस्कंध २६—३३ अध्यायों की सामग्री है। सिद्धान्तपंचाध्यायी को हम इन पाँच अध्यायों की पुष्टिमार्गीय व्याख्या कह सकते हैं। नन्ददास के दार्शनिक और धार्मिक विचारों पर लिखते हुए हम सिद्धान्तपंचाध्यायी का विशेषरूप से उपयोग करेंगे। परन्तु रासपचाध्यायी में स्वय कुछ व्याख्या मिलती है—सिद्धान्तपचाध्यायी के कितने ही पद उसी रूप में वहाँ भी मिल जाते हैं जैसे वृन्दावनतत्त्व की व्याख्या दोनों में सामान्य है। हो सकता है कि सिद्धान्तपचाध्यायी की सामग्री मूल रूप में रासपंचाध्यायी में ही आई हो और उसे बाद में ग्रथकार या किसी अन्य कवि ने अलग कर दिया हो। स्वयं नन्ददास कदाचित् ऐसा नाम नहीं देते। यह भी सम्भव है कि रासपचाध्यायी लिखने के बाद लेखक को सिद्धान्त-निरूपण के लिए एक नई पुस्तक की आवश्यकता जान पड़ी हो और उसने रासपंचाध्यायी के उन पदों को इस नवीन ग्रन्थ में ग्रहण कर लिया हो जो उसने पहले ही स्थान-स्थान पर व्याख्या के रूप में लिखे थे। दोनों ग्रथों में मूल कथा एक ही क्रम से चलती है।

उन्तीसवाँ अध्याय—नन्ददास ने अपनी रासपंचाध्यायी के प्रथम अध्याय में इस अध्याय की सारी सामग्री का उपयोग किया है। यह सामग्री ६५ से मिलना शुरू होती है। इसके पहले की पंक्तियाँ

अवतार का उद्देश ही यह है कि धर्म की स्थापना हो और अधर्म का नाश। वे धर्ममर्यादा के बनाने वाले, उपदेश करने वाले और रक्षक थे।' शुकदेवजी शंकासमाधान करते हैं—'सूर्य, अग्नि आदि कभी-कभी धर्म का उल्लंघन और साहस का काम करते देखे जाते हैं। परन्तु उन कामों में उन तेजस्वी पुरुषों को कोई दोष नहीं होता। देखो, अग्नि सब कुछ खा जाता है, परन्तु उन पदार्थों के दोष से लिप्त नहीं होता' (१०-३३-३०)।

'जब भगवान अपने भक्तों की इच्छा से अपना चिन्मय श्रीविग्रह प्रकट कर देते हैं; तब भला, उनमें कर्म-बंधन की कल्पना ही कैसे हो सकती है।'

'ब्रजवासी गोपों ने भगवान् श्रीकृष्ण में तनिक भी दोष बुद्धि नहीं की। वे उनकी योगमाया से मोहित होकर ऐसा समझ रहे थे कि हमारी पत्नियाँ हमारे पास हैं' (३०-३६)।

नन्ददास को भी इस व्याख्या की आवश्यकता पड़ी और उन्होंने सिद्धान्तपंचाध्यायी की रचना की। इस ग्रन्थ का विश्लेषण करने पर हमें पता लगता है कि उसने विरोधियों के तर्कों का उत्तर किस प्रकार से, किस क्रम से दिया है। वह विश्लेषण इस प्रकार है—

१ आश्रयतत्त्व १–१६
२ रास क्यों, मदनगर्वहरण के लिए १६–२४
३ रास-रस २५, २६
४ रास के नायक कृष्ण की पाप-पुण्य निरपेक्षता २७–३७
५ वृन्दावनतत्त्व ३६, ४०
६ रास की भूमिका ४१–५०
७ वेणुवादन ५०–५५
८ गोपियों की कृष्णोन्मुखता ५६–७४
९ गोपीप्रेम ७५–८६

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धान्तपञ्चाध्यायी में रासपंचाध्यायी के विभिन्न अगों की उसी क्रम से व्याख्या है। कवि का सामान्य सिद्धान्त यह है—

नाहिन यह शृङ्गार कथा कछु पंचाध्यायी

कवि को यह सविस्तार सिद्ध करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी है कि कृष्ण-कथा के इस अंश पर उसके समय में भी अनैतिकता का दोषारोपण होता होगा। जब-जब अध्यात्म साधना के लिए शृङ्गार का आश्रय लिया गया है, तब-तब भारत की नैतिकप्राण जनता ने उसको सन्देह की दृष्टि से देखा है। वैसे सिद्धों और संतों तक के साहित्य में भी आध्यात्मिक साधना के लिए रूपक-रूप में ही सही, शृंगार रस का उपयोग हुआ ही है। कबीर अपने को 'राम की बहुरिया' मान कर कहते हैं—

एक मैक हैं जौ लौं न सोए, किहि विधि मिलना होय।

कृष्ण-काव्य में तो शृंगार के स्वर अत्यन्त प्रखर हो गये हैं यहाँ तो कवि मगलाचरण मे ही राधा-कृष्ण के निकुंज विहार की बात लिखता हुआ प्रार्थना करता है—

सोई कालिन्दी के कूल की केलि एकन्त हरै भवभीति हमारी (देखो भारतेन्दु हरिश्चन्द का जयदेव के मगलाचरण का अनुवाद) पुष्टिमार्ग से पहले ही अन्य कृष्ण-सम्प्रदायों (गौड़ चैतन्य संप्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय, पल्ली संप्रदाय) और मीरा के काव्य में राम-कृष्ण के केलिविलास और भक्त की मधुरी भक्ति का प्रकाशन हो चुका था। विरोधियों के तर्क भी सामने आ चुके थे। आचार्यों ने इन विरोधों का बराबर परिहार भी किया था, परन्तु उनके ग्रन्थ संस्कृत में थे। नन्ददास के भाषा में ग्रन्थ लिख कर रास-पंचाध्यायी कर किए गए आक्षेपों का उत्तर देने की चेष्टा की।

५—रुक्मिनी मगल

'*रुक्मिनी मंगल*' की कथा *भागवत दशमस्कन्ध* के बावन अध्याय से चौवन अध्याय तक की कथा है। मूल आधार यही है। सारी कथा संक्षेप में है और उसमें अनेक काव्योपयोगी परिवर्तन कर दिये गये हैं। हो सकता है कि रामभक्त तुलसी के 'जानकी मगल' और 'पार्वती मंगल' ग्रन्थ को देखकर कृष्णभक्त नन्ददास के हृदय में भी अपने नायक और आराध्य कृष्ण का विवाह (*मंगल*) लिखने का विचार उत्पन्न हुआ हो। ग्रंथशेष करते हुए तुलसी की भाँति नन्ददास भी कहते हैं—

जो यह मंगल गावै, चित दै सुने सुनावै
सो सब मंगल पावै, हरि रुक्मिनी मन भावै
हरि रुक्मिनी मन भावै, सो सब के मन भावै
नन्ददास अपने प्रभु कौ य मंगल गावै

२६३—२६६

जिन बातों को कवि ने ग्रन्थ के विषय (विवाह, एक मांगलिक कृत्य) और कृष्ण के चरित के विरोध में पड़ते हुए समझा है, उन्हें उसने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया है। जैसे ग्रन्थ में कृष्ण के युद्ध का संकेत मात्रा है, पूरा वर्णन नहीं। भागवत वे इस प्रसंग में कृष्ण

के शौर्य की अच्छी स्थापना हुई है। भागवत के कृष्ण रुक्मिणी के सामने ही उसके भाई (रुक्म) के बध के लिए उद्धत हो जाते हैं और उसे अपमानित करते हैं। यह प्रसंग कृष्ण के शील के विरुद्ध था, अतः नन्ददास इस लाञ्छना को संक्षेप में ही समेट कर चलते हैं—

जितक छोह हरि लिये हुतौ, तेतौ नहि कीनौ
मूड़ मूड़ि सत चुटिया रख, तिहिं छाँड़ि है दीनौ
२६०

इसके अतिरिक्त काव्योपयोगी स्थलों पर अनेक परिवर्तन कर दिये हैं। कारण यह है कि भागवत की कथा का रूप पौराणिक गाथा का है, परन्तु नन्ददास को इस कथा को खंडकाव्य रूप देना पड़ा है। इसीलिए कथा बिलकुल आरम्भ से शुरू न होकर अकस्मात शुरू होती है—

सिसुपालहि दई समय, रुक्मिनी बात सुनी जबे

साथ ही यत्र-तत्र काव्यात्मक सौन्दर्य और कला का आग्रह मिलता है। कुछ स्थलों की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। "जब परम सुन्दरी रुक्मिणी को यह मालूम हुआ कि मेरा बड़ा भाई रुकमी शिशुपाल के साथ मेरा विवाह करना चाहता है, तब वे बहुत उदास हो गईं। उन्होंने बहुत कुछ सोच विचार कर एक विश्वास-पात्र ब्राह्मण को तुरंत भगवान श्रीकृष्ण के पास भेजा" (भागवत)। नन्ददास ने रुक्मिणी की वेदना का अत्यन्त विस्तृत एवं मार्मिक चित्रण किया है (५—५०) यह सारा चित्रण विरह-सम्बन्धी शास्त्रीय मान्यताओं के आधार पर खड़ा किया गया है, जैसे—

चकित चहूँ दिसि चहति, बिछुरि मनु मृगी मालतैं
भयौ है बदन कछु मलिन, नलिन जनु गलित नालतैं
भरि आये जल नैन, प्रेम-रस ऐन सुहाये
जनु सुन्दर अरिबिन्द, अलिनदल बैठि हलाये

अलि पूछति बलि बात, कहौं क्यौं नैनि पानी
पुहुपरेनु उड़ि परी, कहति तिन यौं मधुबानी

और

सुसुम कुसुम के हार, उदार सखी गुहि लावैं
कर सौं कुँवरि न परसै, अरसौं निकट धरावैं
अपने करजु विरहजुर जानति अति ही ताते
मति मुरझाइ सो माला, बाला डरपति याते

भागवत में द्वारिका का किञ्चित भी वर्णन नहीं है—'वे ब्राह्मण द्वारिकापुरी में पहुँचे, तब द्वारपाल......' परन्तु नन्ददास 'पुरी परम माधुरी, चाहि कै चकित भयौ चित' (५५) से आरम्भ करके—

ब्रह्म, रुद्र, अमरेंद्रापि की भीर भुलावै
भीतर जान सो पावै, जिहिं हरि देव बुलावै (८६)

तक पुरी के सौन्दर्य, रंगमहल की शोभा और कृष्ण के ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं। भागवत में रुक्मिणी विप्र के हाथ सँदेसा भेजती हैं, परन्तु नन्ददास तो रसशास्त्र में पारंगत ठहरे, वे शृङ्गारशास्त्र को उपयोग में लाने का ऐसा मौक़ा कब छोड़ते। उन्होंने 'पाती' की योजना की है—ऐसी ही योजना 'भ्रमरगीत' प्रसंग में सूरदास ने भी की है, उद्धव कृष्ण की पत्री लाते हैं। विरह-काव्य में प्रेमी-प्रेमिका की पत्री का एक प्रमुख स्थान है। नन्ददास ऐसा मौक़ा कैसे छोड़ते—

तब रुक्मिनी कौ कागर नागर नेह नवीनौ
बसन छोर तौं छोरि, विप्र श्रीधर कर दीनौ
मुद्रा खोलि गोविन्दचद जब बाचन आँचैं
परम प्रेमरस साँचे, अच्छर परत न बाँचें
श्रीहरि हियौ सिरावत, लखत लै लै छाती
लिखी विरह के हाथन, पाती अनहूँ ताती
रुक्मिनि अँसुवन भीनी, पुनि हरि अँसुवन भीनी
दिये लाइ, सचुपार, बहुरि द्विजवर को दीनी

भागवत में रुक्मिणी ने सन्देश द्वारा अपने हरने की सब तरकीब बता दी है—'हमारे कुल का ऐसा नियम है कि विवाह के पहले दिन कुल देवी का दर्शन करने के लिए एक बहुत बड़ी यात्रा होती है, जलूस निकलता है—जिसमें विवाही जाने वाली कन्या को नगर के बाहर गिरिजा देवीजी के मन्दिर में जाना पड़ता है। उस समय आप मुझे आसानी से ले जा सकते हैं।' परन्तु नन्ददास की विरह-पाती विरह-पाती है, उसमें इस प्रकार की कोई बात नहीं। इससे काव्य में सौष्ठव आ जाता है और कृष्ण का प्रयत्न उद्धारमात्र न होकर 'नायक का नायिका के प्रति प्रयत्न हो जाता है। इस प्रकार हम स्पष्ट देखते हैं कि रुक्मिणी मंगल जैसे छोटे काव्य में भी नन्ददास कहाँ तक मौलिक होने की चेष्टा करते हैं और वे किस तरह रीतिशास्त्र के आधार पर अपनी रचना को खड़ा करते हैं।

भागवत में कृष्ण के कुन्दनपुर पहुँचने पर उनके प्रयत्न और युद्ध एवं विपक्षियों की तैयारी आदि का विस्तृत वर्णन, परन्तु कृष्ण के सौन्दर्य का वहाँ वर्णन नहीं है, परन्तु नन्ददास ऐसे सम्प्रदाय के कवि थे जिसमें रूपासक्ति अध्यात्म-साधना की पहली सीढ़ी थी। उन्होंने कृष्ण के सौन्दर्य का नर-नारियों पर अद्भुत प्रयास दिखाया है, भले ही वर्णन अप्रासंगिक हो गया हो। इस स्थल पर वे भागवत के ही दूसरे स्थल—श्रीकृष्ण का मथुरा-प्रवेश—से सहारा लेते जान पड़ते हैं—

> पुरने लोगन सुनी, कि श्री सुन्दर वर आये
> जहाँ तहाँ तै आये, देखि हरि विस्मय पाये
> कोटि काम-लावय-धाम सँग सावरे पिय के
> जे जे वाको दृष्टि परे, ते भये तितही के
> कोउ जो अलक छवि उरझे, अजहूँ नाकिन सुरझे
> ललित लटपटी पगिया, तकितकि तहँतहँ मुरझे

कोउ कटीली भौंहन, निरखत दिव बस थरे हैं
कोउ कोउ इह छवि गिनतगिनत ही हरि परे हैं
इत्यादि

भागवत में देवी रुक्मिनी को आशीर्वाद नहीं देती, परन्तु यहाँ कदाचित् रामचरितमानस के आधार पर—

ह्वै प्रसन्न अम्बिका कहती, सुनि रुक्मिनि सुन्दरि
पैहै अब गोविन्द चहे, जिय जिनि विषाद करि

भागवत और नन्ददास दोनों में रुक्मिनी के अलौकिक सौन्दर्य और रुक्मिणी-हरण का सुन्दर चित्रण है, परन्तु नन्ददास उपमा-उत्प्रेक्षा के सहारे भागवतकार ऐसी बाज़ी मार ले गये हैं—

'इसके बाद जैसे सिंह सियारों के बीच में से अपना भाग ले जाय, वैसी ही रुक्मिनीजी को लेकर भगवान श्रीकृष्ण—"
(भागवत)

ले चले नागर नगधर, नवल तिया कौं ऐसैं
भाँखिन आँखिन धूरि परि, मधुहा मधु जैसे
गरुड़ हरी जिमि सुधा, दर्प सब सर्पन कौं हरि
तैसें हरिलै चले, आपनौ सहज खेलि करि
सुन्दर साँवरे पिय संग, अति ही आभा भासी
जनु नव नीरद निकट चारु चंद्रिका प्रकासी

भागवत के चौवनवें अध्याय की युद्ध, परस्पर व्यंग, रुक्मी की पराजय आदि के जो प्रसंग हैं उनमें मधु रस को कोई जगह नहीं मिल सकती थी। इन सबको नन्ददास ने अत्यन्त संक्षेप में रख दिया—अधिकांश उपमा-उत्प्रेक्षाओं के सहारे प्रसंग को व्यंजित करने की चेष्टा भर की है। न जरासंध और शिशुपाल के महान प्रयत्न का ही चित्र है, न रुक्म की गालियाँ ही। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने सारी कथा

की अत्यन्त रसमय नवीन योजना दी है। उसने पौराणिक कथा को सुन्दर काव्य बना दिया है। इससे छोटा सफल काव्य मिलना असम्भव है। नन्ददास की रचनाओं में रुक्मिनी मगल को भी उतना ही विशिष्ट स्थान मिलना चाहिये जितना रासपंचाध्यायी या भ्रमरगीत को मिलता है।

६—दशमस्कंध

'दशमस्कध' भागवत के दसवें स्कध के पहले २९ अध्यायों का अनुवाद है—या कहिये, सक्षित भावानुवाद है जिसमे सिद्धान्तों के रूप में नन्ददास ने अपनी ओर से भी बहुत कुछ जोड़ दिया है—

'क्यों सिद्धान्त रत्न उद्धरैं।'

प्रसिद्ध जनश्रुति है कि नन्ददास ने भागवत का भाषा में अनुवाद किया। 'वार्त्ता' में स्पष्ट लिखा है कि तुलसीदासजी की भाषा रामायण देखकर उन्हें भाषा में पदबद्ध भागवत-उलथा उपस्थित करने की चाह हुई, परन्तु जब वे अनुवाद कर चुके तो पंडितों को मालूम हुआ। उन्होंने जाकर गुसाईंजी से कहा कि इससे भागवत कथा-वाचकों की रोजी जाती है। कहीं लिखा है कि आचार्य ने नन्ददास को आज्ञा की कि केवल पंचाध्यायी छोड़ कर सारा ग्रथ नष्ट कर दो (दे० भारतेन्दु का छप्पय), कहीं यह कि पंचाध्यायी तक की व्रजलीला रख लो, शेष ग्रंथ नष्ट कर दो। अब जो ग्रंथ प्राप्त हैं उनमे पंचाध्यायी तक की सामग्री है—'पंचाध्यायी' में का प्रथम अध्याय (२९वा अध्याय) भी भी मिलता है। समझ यह पड़ता है कि भारतेन्दु ने प्रसिद्ध 'रासपंचाध्यायी' को ही यह भागवत-उल्थे की बची 'पंचाध्यायी' मान लिया। इसके अतिरिक्त, यदि ग्रंथ व्रजलीला तक ही रखा जाता, तो भी शेष अश आते। वास्तव में विशेष सुन्दर और महत्वपूर्ण प्रसंग आगे ही थे।

हमारी समझ में तो नन्ददास ने पूरी भागवत का अनुवाद कभी न किया होगा। यह सचमुच थकानेवाला काम होता। हम जानते हैं कि स्वयं सूरदास इस काम को नहीं कर सके। बात यह है कि वल्लभ सम्प्रदाय के भक्त कृष्ण को छोड़कर अन्य कथाओं में इतनी अभिरुचि नहीं रखते कि उन्हें इन पर काव्य लिखने का उत्साह हो। इस कथन का यह प्रमाण भी थे कि नन्ददास ने अपनी रचनाओं में कृष्ण को छोड़कर और किसी वस्तु को अपना विषय नहीं बनाया। अलबत्ता उनके रामभक्ति-पद हम छोड़ देंगे। हमारा तात्पर्य यह है कि "दीक्षा" के बाद उन्होंने अपनी दृष्टि को कृष्ण पर ही केन्द्रित रखा। दूसरी बात यह है कि यदि हम "प्रथम अध्याय" की पहली २० पंक्तियों को समझ कर पढ़ें, तो हमें पता लग जायगा कि नन्ददास ने ग्रन्थ को इसी दसवें स्कंध से शुरू किया है—

> परमविचित्र मित्र इक रहै, कृष्णचरित्र सुन्यौ सो चहै
> तिन कही 'दशम स्कन्ध जु माहि, भाषा करि कछु बरनी ताहि
>
> पंक्ति ३,४

इससे स्पष्ट है कि ग्रंथारम्भ इसी दशमस्कन्ध में होता है—इसी से दशमस्कन्ध नाम सार्थक है। परन्तु दशमस्कन्ध की पूरी सामग्री इसमें नहीं है, यही नहीं, दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध की सामग्री भी लगभग आधी है। पूर्वार्द्ध में ४६ अध्याय हैं, नन्ददास के 'दशमस्कन्ध' में २६ अध्याय ही हैं। जान पड़ता है कि नन्ददास की इच्छा दशमस्कन्ध को ही भाषांतरित करने की थी, परन्तु वे ऐसा नहीं कर सके। हो सकता है कि ग्रंथ उनकी अंतिम रचना हो और अधूरा रह गया हो। इस अधूरेपन के कारण यह जनश्रुति चली कि ग्रंथ का अवशिष्ट भाग डुबा दिया गया—यद्यपि ऐसा करने का कोई कारण नहीं था। 'दशमस्कन्ध' पूरी भागवत का अनुवाद नहीं था, कथावाचकों के लिए बहुत कुछ सामग्री जनता के मनबहलाव के लिए बाकी रह जाती। नन्ददास ने

अपने ग्रंथ में मौलिकता रखी है—उन्होंने उसमें पुष्टिमार्गीय दर्शन और धर्म पर व्याख्या की है, इससे यह आशा नहीं हो सकती कि गुसाईंजी उसका और भागवत का मौलिक भेद नहीं समझ पाते। यह सब किम्वन्दती निराधार है। अधिक सम्भव यह है कि २६वें अध्याय तक पहुँचकर नन्ददास को यह पता चला कि वे अपनी एक पुरानी भूमि पर आ गये हैं। २९वें अध्याय से ३३वें अध्याय तक की सामग्री का उपयोग वे "रासपंचाध्यायी" में कर चुके थे। इसी विषय पर जब वे अपनी एक अत्यन्त उत्कृष्ट रचना उपस्थित कर चुके थे, तब उनसे वैसी ही उतने उच्चकोटि की दूसरी रचना किस प्रकार मिल सकती थी। इस तरह उनका उत्साह नष्ट हो गया और वे आगे नहीं बढ़ सके। 'दशमस्कन्ध' प्रथम अध्याय और रासपंचाध्यायी की समान सामग्री की तुलना भी की जा सकती है। पता चलता है कि नन्ददास ने दशमस्कन्ध से 'पंचाध्यायी' की शब्दावली, शैली और पद-समूह का एक ही उपयोग किया है। जैसे—

बिहरत बिपिन बिहार, उदार, नवल नंदनन्दन
(रास० २२१)

बिहरत बिपिन उदार, ब्रजरमनी ब्रजराजकुमार
(दशम० १३४)

बिलुलित उर-बनमाल, लाल जब चलत चाल बर
(रास० २२५)

बिलुलित उर वैजन्तीमाल, लटवल चलत सु मद गजमयाल
(दशम० १३८)

कोमल किरन अरुनिमा भई
(रास० १२)

कोमल किरन-अरुनिमा, बनमैं व्यापि रही यौं
(दशम १०२)

तब लीनो करकमल, जोगमाया सी मुरली
अघटित घटना चतुर, बहुरि अधरा सब जुरली
(रास० पं० १०६, ११०)

तब लीनी करकजनि मुरली, खर्जादिक जु सप्त सुर जुरली
सोइ जोग-माया गुन-भरी, लीलाहित हरि आश्रित करी
(दशम० १६,१०)

चलत अधिक छवि फबत, श्रवन मनि कुंडल झलकैं
संकित लोचन चपल, ललित छवि विलुलित अलकैं
(रास० पं० १००)

श्रवननि मनिकुंडल झलमले, बेगि चलन कहुँ जनु कलमले
कुतंल संकित बने जु मैन, मैनके मनहिं देत नहिं चैन
(दशम २६,३०)

क्रूर बचन नहिं तुम्हरे लाइक
(रास० ८८)

क्रूर वचन जिनि कहौं, नहिन ये तुम्हरे लाइक
(दशम० १६४)

विलसत विविध विलक हास निवी-कुच परसत
सरस प्रेम अनग रग, संव घन ज्यौं बरसत
(रास०, २४५, २४६)

कुचन की परसनि, नीवी करसनि, सुख सी बरसनि,
मन की सरसनि (दशम, १४८)

इस प्रकार का प्रयोग करते हुए शेष अध्याय लिखना कुछ दुस्तर कार्य था—करे हुए कार्य को दुबारा करना था। अतः कवि की वृत्ति इसमें नहीं रमी। यह भी कहा जा सकता है कि नन्ददास ने पहले 'दशमस्कन्ध' की ही रचना की, परन्तु जब २६वें अध्याय पर पहुँचे,

तो, उन्हें काव्यकला को प्रस्फुटित करने की संभावना मिली। अतः उन्होंने शेष अध्याय पूरे करने की चिन्ता नहीं की और एक स्वतन्त्र रचना रच दी। परन्तु हम अलग बता चुके हैं 'दशमस्कंध' बाद की रचना है—वह 'रसमंजरी', 'विरहमंजरी' और 'रूपमंजरी की' श्रेणी की रचना है। इन सब ग्रंथों पर 'मंजरी' छाप है—किसी रसिक मित्र का आग्रह है। 'विरहमंजरी' में कवि ने 'उपपति-रस' की व्याख्या की है—दशमस्कंध २६वें अध्याय में कृष्ण उपपति हैं और गोपियाँ अपनी सफ़ाई देती हुई दिखलाई देती हैं—

जौ कहौ उपपति-रस नहिं स्वच्छ,
सब कोउ निदंत अरु अति तुच्छ
तहाँ कहति हैं ब्रजभामिनी,
लहलहाति जनु नव दामिनी
तुम्हरी यह कलगी तजि पीय,
त्रिभुवन मांझ कवन अस तीय
सुनतहि आरज पथ नहिं तजै,
सुन्दर नन्द सुवन नहिं भजै

(पंक्ति ११०–१२१)।

इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि दशमस्कंध 'विरहमंजरी' के साथ ही की रचना है। अतः हम कह सकते हैं कि रास पंचाध्यायी की अद्भुत पूर्णता के कारण ही दशमस्कंध अधूरा रह गया। वास्तव में नन्ददास के लिए ब्रज से इतर कृष्ण की लीला लिखना भी दुस्तर था। यदि वे 'दशमस्कंध' को आगे बढ़ाते भी, तब भी उसे शीघ्र ही, पंचाध्यायी के साथ, समाप्त कर देते। हम यह बात उनके सिद्धान्तों के आधार पर कह रहे हैं। वे 'ब्रजकृष्ण' के नित्यविहार में विश्वास करते थे। उनके कृष्ण ब्रज से बाहर कहीं नहीं गये। इस सिद्धान्त को लेकर उन्हें "देशान्तर-विरह" और "ब्रज को विरह" की अद्भुत

व्याख्याएँ करनी पड़ी है। अतः उनका अनुवाद पंचाध्यायी के साथ ही समाप्त हो जाता, यह निश्चित है।

दशमस्कंध की "कथा का क्रम मूल के अनुरूप ही है। यद्यपि कुछ स्थलों पर कवि ने मूल कथा का शब्दानुवाद भी किया है तथापि साधारणतया वह भावानुसरण से ही संतोष कर लेता है।" ("नंददास", पृ० ६६) पं० उमाशंकर शुक्ल ने दशमस्कधों की तुलना करके चार अन्तर पाये हैं—

"(१) भागवत के जिन अंशों में शङ्कराचार्य द्वारा प्रवर्तित अविद्या तथा माया के सिद्धांतों का प्रतिपादन अथवा समर्थन होता है उन्हें कवि ने बिलकुल छोड़ दिया है। उदाहरणार्थ, 'भागवत' के अध्याय ४ में जब योगमाया कंस को यह सूचना देकर अंतर्हित हो जाती है कि उसका मारने वाला कहीं अन्य पैदा हो चुका है तब वह आश्चर्यान्वित होकर अपने दुस्कृत्यों पर पश्चात्ताप करने है लगता है। वह कहता है अब मुझे ज्ञात हुआ कि देवता भी झूठ बोलते हैं।' तदनन्तर वह देवकी और वसुदेव को इस प्रकार समझाता है—

"हे महाभागो, तुम दोनों पुत्रों के लिए शोक न करो। उन्होंने जैसे कर्म किये थे वैसा ही फल उनको भोगना पड़ा। सब प्राणी दैव के वशवर्ती हैं, अतएव वे सर्वदा एकत्र नहीं रह सकते। जैसे मिट्टी से घर आदि उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, पर मिट्टी वैसी ही बनी रहती है, उसी प्रकार देहादि की उत्पत्ति और नाश होता है; परन्तु आत्मा अविकृत ही रहता है। जो लोग यथार्थ रूप से इस तत्त्व को नहीं जानते उन्हीं को देहादि असत् पदार्थों में आत्म-बुद्धि होती है और इसी भ्रांतबुद्धि से भेदज्ञान उत्पन्न होता है......।"

इस समस्त प्रसंग को कवि ने छोड़ दिया है क्योंकि वल्लभ-सम्प्रदाय में इस प्रकार की विचारावली का पूर्ण विरोध किया गया है।

(२) 'भागवत' के कुछ प्रसंगों को कवि ने सम्भवतः अनावश्यक विस्तारभय के कारण भी नहीं ग्रहण किया है। तृतीय अध्याय में कृष्ण देवकी से उसके पूर्वजन्म की कथा कहते हैं जिसमें उन्होंने उसके तप से प्रसन्न होकर उसका पुत्र होना स्वीकार किया था। 'दशमस्कंध' के तृतीय अध्याय में वह कथा नहीं है।

(३) 'दशमस्कंध (पूर्वार्द्ध)' के सम्पादक श्री कर्मचन्द गुग-लाली ने उस ग्रन्थ की भूमिका में यह बतलाया है कि नन्ददास ने अपने ग्रन्थ में श्रीमद्भागवत के टीकाकारों के कुछ भावों का भी समावेश कर लिया है। उनके अनुसार 'दशमस्कंध' में श्रीधरस्वामी की भावार्थ-दीपिका, श्री मज्जीवगोस्वामी कृत वैष्णवतोषिणी और श्रीमद्वल्लभाचार्य कृत 'सुबोधिनी' से भी कवि ने सहायता ली है। नन्ददास अपने ग्रन्थ को पुष्टि-मार्गीय सभी उपसम्प्रदायों में समादृत कराना चाहते थे इसीसे उन्होंने इन आचार्यों के भावों को अपनाया है। यह बतलाया गया है कि वल्लभाचार्य जी के अनुसार श्रीमद् भागवत के दशमस्कंध में 'निरोध' का वर्णन है तथा श्रीधरस्वामी के मत से उसमें 'आश्रय' का वर्णन है। 'निरोध' के शब्दार्थ में भी दोनों आचार्यों में मतभेद है। नन्ददास ने दोनों के मतों का समावेश कर लिया है।

(४) कतिपय परिवर्द्धन 'श्रीमद्भागवत' के वर्णनों को अधिक पूर्ण और रोचक बनाने के विचार से भी किये गये हैं, जैसे प्रथम अध्याय में मथुरा की प्रशंसा में किंचित विस्तार कर दिया गया है। इसी भाँति कुछ आलंकारिक उक्तियाँ भी यत्रतत्र जोड़ दी गई हैं। ये परिवर्तन सामान्य ही हैं। (वही, पृ० ९९-१०१) नन्ददास का यह

ग्रंथ केवल उनके सिद्धान्तों का अध्ययन करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है—कि वे कृष्ण लीलाओं का क्या अर्थ करते हैं, विभिन्न दार्शनिक विषयों पर उनके विचार क्या हैं। एक दूसरे अध्याय में हमने ग्रंथ के इन स्थलों का उपयोग किया है। काव्य-कला की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं है। फिर भी नन्ददास के ग्रंथों में, अनेक कारणों से, 'दशमस्कंध' की उपेक्षा नहीं की जाती।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त नन्ददास ने बहुत से पद भी रचे हैं। ये सब अभी सम्पादित रूप से हमारे सामने नहीं आये हैं। वैसे छोटे-मोटे संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। "नन्ददास" में जो सम्पादित पद हैं, वे ४० के लगभग होंगे। शेष २४८ पद असंपादित ही 'परिशिष्ट' के शीर्षक के अंतर्गत दे दिये गये हैं। हमने 'नन्ददास का पदावली-साहित्य' शीर्षक अध्याय में इन पदों का स्वतंत्र अध्ययन किया है। श्री दीनदयाल गुप्त ने ऐसे ४०० पदों की अवस्थिति की सूचना दी है। जब तक नन्ददास के सारे पद प्रामाणिक रूप से सपादित होकर हमारे सामने नहीं आ जाते, तब तक हम कवि के एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण काव्यांश पर विशेष टीका-टिप्पणी नहीं कर सकते। "पुष्टिमार्ग" और "अष्टछाप" का अधिकाश साहित्य पदों के रूप में है। नन्ददास अष्ट-छाप के एक अत्यंत महत्वपूर्ण रत्न हैं। उनके सपादित ग्रन्थ जैसी वस्तु तो अन्य अष्टछाप कवियों के पास है ही नहीं। अतः अष्टछाप के कवियों में नन्ददास का स्थान आंकने के लिये उनके पद भी चाहिए।

ऊपर हमने नन्ददास की उन प्रामाणिक रचनाओं पर विचार किया है जो संपादित होकर "नन्ददास" में उपलब्ध हैं। परन्तु अन्य ग्रंथों की समस्या अभी पूर्ण तथा निश्चित नहीं हुई है। "कृष्णमंगल" जैसी रचना जो केवल कुछ पंक्तियों का एक पदमात्र है अनिश्चित रहे तो कोई बात नहीं, परन्तु नन्ददास के कुछ अनिश्चित ग्रंथ बहुत

महत्त्वपूर्ण है। उनकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता सिद्ध होनी चाहिये। उदाहरण के लिए 'सुदामाचरित' और 'नासिकेत पुराण' है। साधारणतय: ये दोनों प्रामाणिक रूप से नन्ददास के ग्रंथ माने जाते हैं, परन्तु नन्ददास के संपादक ने इन्हें संदिग्ध ग्रन्थों की श्रेणी में रखा है। 'सुदामाचरित' छोटी सी रचना है। इसकी अंतिम पंक्ति से तीसरी पंक्ति इस प्रकार है—

दसम स्कंध विमल सुख बानी, सुनत परीछित अति रति मानी

इससे यह अनुमान होता है कि कदाचित् यह 'चरित' भी नन्ददास ने 'दशमस्कंध' में जोड़ने के लिए लिखा हो, परन्तु बाद को "दशमस्कंध" में स्थान न पा सकने के कारण इसे स्वतंत्र ग्रंथ बना दिया हो—

'नन्ददास की कृति सपूरन'

यह पंक्ति ग्रंथ की स्वतन्त्रता प्रगट करती है। भागवत में सुदामा की कथा अस्सीवें-इक्यासीवें अध्यायों का विषय है। नन्ददास की रचनाओं की तुलना करने पर प्रगट हो जाता है कि इसकी स्थिति भी 'रुक्मिनी मंगल' जैसी है। यहाँ भी उन्होंने द्वारिका के सौंदर्य का वर्णन किया है जो मूल में नहीं है और शैली भी वही रखी है। अनावश्यक विस्तार कम कर दिया है। "नासिकेत पुराण" ब्रजभाषा गद्य ग्रंथ होने के कारण महत्वपूर्ण है, परन्तु 'वार्ता' की भाँति वह भी मौलिक कही कथा का लिपिबद्ध रूप है। कदाचित् यह कथा संक्षेप में नन्ददास ने अपने मित्र के लिए लिखी हो और मौखिक रूप से उसे अपने शिष्य को सुनाया हो जिसने उसे लिपिबद्ध किया। सम्भव है ये "शिष्य" और "मित्र" एक ही व्यक्ति हों। पद्य और गद्य की शैलियों में अन्तर होने के कारण हम नन्ददास की भाषाशैली के सहारे भी इसके सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कर सकते।

नन्ददास की ६ रचनाएँ अप्राप्य कही जाती हैं। जब तक इनकी प्रतियाँ प्राप्त नहीं होतीं हम इनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते। परन्तु नाम से तो यह ज्ञान पड़ता है कि मानलीला मानमंजरी होगी; अर्धचन्द्रोदय, विज्ञानार्थ प्रकाशिका और ज्ञानमजरी अनेकार्थमंजरी के ही अन्य नाम होंगे। सम्भव है रासमंजरी और बाँसुरीलीला रासपंचाध्यायी के ही नाम हों। निश्चित रूप से कुछ भी नहीं जा सकता। काँकरोलीवाले 'गोवर्द्धनलीला' को प्रामाणिक मानते हैं। "नन्ददास" के सम्पादक का कहना है कि यह कोई मूलग्रंथ नहीं है, 'दशमस्कंध' के इस प्रसंग की भूमिका और इति बाँध कर किसी ने एक ग्रंथ गढ़ लिया हो। हो सकता है, नन्ददास ने ही ऐसा किया हो।

३

नन्ददास के काव्य में पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त

पुष्टिमार्ग के कवियों में केवल नन्ददास के काव्य में पन्थ के धार्मिक एवं साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन मिलता है। इन सिद्धान्तों के अध्ययन के लिए सिद्धान्त-पंचाध्यायी, विरहमंजरी, रूपमंजरी, रसमंजरी और रासपंचाध्यायी विशेष रूप से पठनीय हैं। इन ग्रन्थों में भी सिद्धान्तपंचाध्यायी प्रमुख है।

सिद्धान्तपंचाध्यायी में रास-कथा के रहस्यात्मक एवं आध्यात्मिक रूप को विशेष रूप से स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। ग्रंथ अध्यायों में विभाजित नहीं है। इससे साफ है कि रास-सम्बन्धी पाँच अध्यायों की विवेचना के कारण ही इसको यह नाम दिया गया है। नीचे हम विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत नन्ददास के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं।

१—कृष्ण

कृष्ण के रूप, गुण, कर्म अपार हैं—वे परम धाम, जगधाम, परम अभिराम, उदार हैं। आगम, निगम, पुराण, स्मृति, इतिहास—सारा ज्ञान-विज्ञान उनकी निश्वास है। उनके षट्गुन (६ गुण) हैं। वही नारायण हैं। वही अवतार धारण करते हैं। सबके आश्रय हैं, अविधि भूत हैं। उनकी लीलाओं के कई भाग हैं शिशु, कुमार, पौगंड, बड़े वय की धर्म-संस्थापन लीला, परन्तु वे 'नित्यकिशोर' हैं। तिरसूली (शिव) उनकी माया के वश में हैं। उन्होंने ही इन्द्र का गर्व खर्व किया। रासलीला करके वही मदन (काम) के गर्व को

हरते हैं । वे ही ब्रह्म हैं । जीव से उनका भेद प्रगट करके ही उन्हें समझाया जा सकता है—

> काल, करम, माया-अधीन, ते जीउ बखाने
> विधि-निषेध, अरु पाप-पुन्य, तिनमैं सब साने
> परमधरम, ब्रह्मन्य, ग्यान-विग्यान-प्रकासी
> तैं क्यों कहिये जीउ सहस, श्रुति-सिखर-निवासी
> करम, काल, अनिमादि, जोगमाया के स्वामी
> ब्रह्मादिक कीटांत जीउ, सर्वांतरजामी
>
> (सि० प० २६—३४)

कृष्ण ही अखंडानन्द, नन्दनन्दन, ईश्वर, हरि हैं । वे ही अनावृत परमब्रह्म, परमातम, स्वामी हैं ।

२—जीव

जीव काल, कर्म और माया के आधीन हैं । वे विधि-निषेध और पाप-पुण्य मे बधे हैं । वे संसार की (माया-) धारा में बहे जाते हैं ।

३—माया

"संसार" का कारण ब्रह्म नहीं, माया है । नन्ददास ने माया को स्पष्ट कहा है—

> रूप, गंध, रस, शब्द, स्पर्स जे पंच विषै वर
> महाभूत, पुनि अच्च, पवन, पानी, अंबर घर
> दस इन्द्रिय अरु अहंकार, महतत्त्व, त्रिगुन, मन
> यह सब माया कर विकार कहैं परमहंस गन

यह माया हरि (कृष्ण) के आधीन है—

> सो माया जिनके अधीन नित रहत मृगी जस
> विश्व-प्रभव, प्रतिपाल, प्रलैकारक, आयस-बस

जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ भी माया के ही कारण हैं। इस माया के चक्कर में जीव का ईश्वरीय अंश (आनन्दभाव) तिरोभूत हो गया है।

४—अवतार

इसी 'आनन्द-भाव' में जीव को प्रविष्ठ कराने के लिए अखंडानन्द (कृष्ण) करुणा कर अवतार लेते हैं। भक्ति प्राप्त होने पर जीव ब्रह्म की भाँति ही आनन्दमूर्ति हो जाता है—

> सघन, सच्चिदानन्द, नन्दनन्दन, ईस्वर जस
> तैसेई तिन के भगत, जगत में भये भरे रस
>
> (सि० पं० ३८)

५—वृन्दावन

आनन्द की क्रीड़ाभूमि चिद्घन है, कृष्ण का नित्य सदन है, लौकिक प्रदेश नहीं। 'सिद्धान्त-पंचाध्यायी' में कवि कहता है—

> श्री वृन्दावन चिद्घन, छनछन घन छवि पावै
> नन्दसुवन को नित्यसदन, श्रुतिस्मृति जिहिं गावै
>
> (३९–४०)

'रासपंचाध्यायी' में उसने इस अलौकिकता का विशद चित्रण किया है—

> श्री वृन्दावन चिद्घन, कछु छवि बरनि न जाई
> कृष्ण ललित लीला के काज, धरि रह्यौ जड़ताई
> जहँ नग, खग, मृग, लता कुंज, बीरुध, तृन जेते
> नहिन काल गुन-प्रभाउ, सदा सोभित रहैं तेते
> सकल जन्तु अबिरुद्ध, जह हरि मृग सग चरहीं
> काम. क्रोध, मद, लोभ-रहित लीला अनुसरहीं

सब रितु, संत बसंत, लसत जहँ दिनमनि-श्रोभा
आन बनन जाकी विभूति करि सोमित सोभा
ज्यौं लछिमी निज रूप, अनूप चरन सेवत नित
भू-बिलसत जु बिभूति, जगत जगमगि रही जिततित
श्री अनन्त, महिमा अनन्त, को बरनि सकै कवि
संकर्षन सौं कछुक कही श्रीमुख जाकी छवि

(४४-५४)

अलौकिक पुरुष की लीला-भूमि अलौकिक ही होगी। कृष्णलीला सम्बन्धी स्थानों को अलौकिकता प्रदान करने की प्रवृत्ति वल्लभाचार्य में भी है। उन्होंने सुबोधिनी (१०-१२-६) में मथुरा की ऐसी ही रहस्य व्याख्या की है—

सर्वस्वेषु यो विष्टः स भूमावपि संगतः।
सं नित्यं क्वचिदेवास्ति तत्स्थानं मथुरा स्मृता॥

सूरदास भी 'वृन्दावन' की अनित्यता घोषित करते हुए दिखलाई पड़ते हैं—

नित्य धाम वृन्दावन श्याम

(स्कं० १०, पृ० ४२६, पद ७२)

६—वेणु

सब्द-ब्रह्म मैं बेनु बजाइ सबै मन मोहे

(सि० पं० ५१)

नन्ददास ने वेणुनाद को स्पष्ट रूप से 'सब्दब्रह्म' कहा है—वह ब्रह्म का आह्वान है। जीव पहले रूप से आकर्षित होता है। फिर इस आह्वान से मोहित होकर इस तरह भगवान की ओर दौड़ता है, जैसे सरिता सागर की ओर (वही, ५५-५८)। वैदिक साहित्य में ही हमें शब्दब्रह्म की महत्ता मिलती है। वल्लभाचार्य ने एक श्रुति उद्धृत की है—

यदा खलु पुरुषः श्रियमश्नुते वीणा अस्मै वाद्यते।
(वेणुगीत, सुबोधिनी सहितम् पृ० २२)

इससे स्पष्ट है कि आदि काल से ब्रह्म की अनुकम्पा को रूपक रूप में वीणा-स्वर अथवा वेणुगीत के रूप में प्रकाशित किया गया है। योग में नादानुसन्धान का अप्रतिम महत्व है। 'नाद' को लेकर एक उपनिषद की रचना हुई है (नादविन्दूपनिषत्)। अन्य उपनिषदों और पुराणों में स्थान-स्थान पर 'नादबिन्दु', 'नाद', 'नादब्रह्म', 'शब्द-ब्रह्म' की महिमा गाई है। स्कंद पुराण में तो 'शब्द' और ब्रह्म को एकांततः एक ही कह दिया गया है।

शब्दब्रह्म परं ब्रह्म नानयोर्भेद इष्यते
(स्कन्द पुराण। विष्णु खंड २८)

नन्ददास ने एक स्थान पर मुरली (वेणु) को योगमाया भी कहा है—

तब लीनी कर-कमल, जोगमाया-सी मुरली
अघटित घटना चतुर, बहुरि अधरासव जुरली
जाकी ध्वनि तें निगम अगम प्रगटे बड़ नागर
नाद-ब्रह्म की जननि, मोहिनी, सब सुखसागर
(रा० पं० ११६-१२२)

यह योगमाया भगवानुकम्पा ही है। वल्लभाचार्य ने इसके लिए 'भगवच्छक्तिः' शब्द का प्रयोग किया है—

या जगत्कारणभूता भगवच्छक्तिः सा योगमाया।
(सुबोधिनी, १०-१-५)

७—गोपियाँ

गोपियाँ साधक भक्त हैं। वे पहले काम से कृष्ण में अनुरक्त हुईं; फिर उन्होंने निःसीम प्रेम की प्राप्ति की और कृष्ण उनके बस में हो गये। साधनाएँ अनेक हैं। किसी भी प्रकार कृष्ण में अनन्यभाव हो।

शिशुपाल ने महाद्वेष किया, वह महाशुद्ध हो मुक्ति को प्राप्त हुआ। अरज्या, मरज्या, स्रुवा, जग्यसाधन, योग की अष्टांग साधना, सभी उसके मार्ग हैं। गोपियों ने उत्कट काम की साधना द्वारा कृष्ण की प्राप्ति की (सि० प०, २१७-२२८) नन्ददास गोपियों को न शक्ति का अवतार कहते हैं, न श्रुतियों का, केवल उपमा के रूप में वे इनका प्रयोग करते हैं—

पाइ मनोरथ अपनौं, जैसैं हरषै श्रुतिगन
(सि० प० २१२)

यत्रास्मै संस्थितः कृष्णः स्त्रीभिः शक्त्या समाहित
(अणुभाष्य ३, ३, ३)

श्रुत्यन्तर रूपाणां गोपिकानां
(षोड्ष ग्रंथ, पृ० १८)

अधर सुधा गोपिकानं सम्बन्धिनी
बहु वचनेन समुदायरूपा लक्ष्मीरप्येन सूचिता।
(वही, पृ० १६)

वल्लभाचार्य ने गोपियों को कृष्ण की शक्ति, श्रुतिरूप, समुदायरूपा लक्ष्मी कहा है। भागवत में 'गोपजाति' को "प्रतिच्छन्न देवता" कहा गया है—

गोपजाति प्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः
ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नट नृप।
(स्कं० १० अ० १६ श्लो० ११)

नन्ददास इन सब व्याख्याओं से परिचित अवश्य थे, परन्तु उन्होंने रासकथा में एकांततः आध्यात्मिकता का आरोप नहीं किया है। इससे उन्हें गोपी-तत्त्व की रहस्यात्मक व्याख्या की आवश्यकता नहीं पड़ी।

८—रास

रास की भूमिका शृंगारिक है। कृष्ण आश्रय हैं, सरद रजनी, चन्द्रमा आदि रसराज के सहायक उद्दीपन विभाव के अंतर्गत आते हैं। रास में सयोग शृङ्गार ही चित्रित है, परन्तु नन्ददास स्पष्ट कहते हैं—

जे पण्डित सिंगार ग्रंथ मत यामैं सानैं
ते कछु भेद न जानैं, हरि कौ विषई मानैं

स्पष्ट है, कि उनके मत में पंचाध्यायी (रास) लौकिक संयोग केलि विलास से भिन्न है। गोपियों के लिए भले ही यह प्रसंग काम-प्रसंग हो, परन्तु साधक भक्तों के लिए अध्यात्मतत्त्व है। कवि कहता ही है—

कृस्न-तुष्टि करि कर्म करै जो आन प्रकारा
फल बिभिचार न होइ, होइ सुख परम अपारा
(सि० पं० ६७, ६८)

गोपियों का प्रेम ज्ञान के ऊपर प्रेम की विजय का रूपक है—

ग्यान बिना नहिं मुकति, यहै पण्डितजन गायौ
गोपिन अपनौ प्रेमपंथ, न्यारौई दिखरायौ
ग्यान आत्मानिष्ठ, गुनत यौं आतमगामी
कृस्न अनावृत परमब्रह्म परमातम स्वामी
नाहिन कछु सिङ्गारकथा इहि पंचाध्याई
सुन्दर अति निरवृति-परा तैं इती बड़ाई
जिन गोपिन कौ प्रेम निरखि सुक भये अनुरागी
ब्रह्मानन्द मगन, ते निकसे ह्वै बैरागी
पुनि तिन की पदपंकजरज अज अजहूँ बाँछै
ऊधौ बुद्धि विसुद्धन सौं पुनि सो रज इछै
संकर नीके जानत, सारद, नारद जानत
तातैं सबै जगतगुरु, गोपिन गुरु करि मानत
(सि० पं०, ७५—८६)

इस प्रकार रासकथा को कृष्ण-प्रेम का आध्यात्मरूपक बनाया गया है। भगवत्प्रेम की सीढ़ियाँ ये हैं :—

(१) मन पहिलेई आकरषे, सुन्दरवर मूरति हरि
(वही, ५५)

(२) प्रीतम सूचक सब्द (बंसी) का आकर्षण
(वही, ६३)

जब गोपियाँ कृष्ण के पास पहुँचीं, तो वे पहले काम विषय-पर वचन बोले (वही, ६६) और फिर धर्म-अर्थ-पर वाक्य कहे (वही, १०१), परन्तु गोपियों के ही एकांत-भाव की विजय हुई। गोपियाँ कहती हैं—

धरम कर्‌यौ दृढ़ ताकौ, जो धरमहिं रति होई
जा धर माहिं आचरत, समल मन निरमल होई
मन निरमल भये सुबुधि, तहाँ विज्ञान प्रकासै
सत्य ज्ञान-आनन्द, आतमा तब आभासै
तब तुम्हरी निज 'प्रेम भगति रति' अति है आवै
तो कछु तुम्हरे चरनकमल कौ निकटहि पावै
तिन कहु हो तुम प्राननाथ फिर धरम सिखावो
(वही, १०७—११३)

गोपियाँ 'दार, गार, सुत, पति' सब के सुख को दुखमूलक मान कर कृष्ण में रत हुई हैं, इसीसे 'आत्माराम' (वही, १२४) कृष्ण उनके स्नेह के बस हुए।

रास में कृष्ण ने करुणा कर गोपियों (भक्तों) को अपनी बराबरी का स्थान दिया (रच्यौ चहत रसरास, इनहिं अपनी समसरि करि, १३२)। वास्तव में, रास ईश्वरस्वीकृत का रूप है जब भक्त और भगवान में अभेदत्व स्थापित हो जाता है। इस अभेदत्व को किस प्रकार प्रकाशित किया जाये, यह समस्या है। भागवतकार ने इस समस्या को रास की कल्पना द्वारा सुलझाया है जिसमें जीव और

ब्रह्म में अत्यंत नैकट्य स्थापित हो जाता है। रास के इस आध्यात्मिक रहस्य से सूरदास भी परिचित थे। उन्होंने लिखा है—

राम रस रीति नहि बरनि आवै
कहाँ वैसी बुद्धि कहाँ वह मन लहौं,
कहाँ इह चित्त जिय भ्रम भुलावै
जो कहौं कौन माने निगम अगम जो
कृपा बिनु नहिं या रसहिं पावै
(सूरसागर, स्क० १०, पृ० ३४०, पद ६३)

रास की इस आध्यात्मिकता से नन्ददास भी भली-भाँति परिचित थे। रासपचाध्यायी का अंत करते हुए वे कहते हैं—

नित्य रास रमनीय, नित्य गोपीजनवल्लभ
नित्य निगम यौं कहत, नित्य नव तन अति दुर्लभ
यह अद्भुत रस रास कहत कछु कहि नहिं आवै
सेस सहस मुख गावै, अजहूँ अन्त न पावै
सिव मन ही मन ध्यावै, काहू नाहिं जनावै
सनक सनदन सारद, नारद अति ही भावै
जदपि पद-कमल कमला अमला, सेवत निसि दिन
यह रस अपने सपने, कबहूँ नहि पायौ तिन
अज अज हूँ रज वाछत, सुन्दर वृंदावन की
सो तनकहु नहिं पावत, सूल मिटत नहिं मन की
बिन अधिकारी भये, नहिं न वृंदावन सूझै
रेनु कहाँ ते सूझै, जब लगि वस्तु न बूझै
निपट निकट ज्यौं घट मैं अंतरजामी आही
विषय-विदूषित इंद्री, पकरि सकै नहिं ताही
(५७३—५८६)

यह 'रास' ब्रह्म (कृष्ण) की अन्यतम एकांत लीला है जिसके लिए वल्लभाचार्य ने "कैवल्य" शब्द का प्रयोग किया है (अणुभाष्य, २-९-३३)। लीला में भाग लेना ही मोक्ष है (सा लीला कैवल्यं मोक्षः) इसीलिए पुष्टिमार्ग के कवि की अन्यतम साधना यही होती है कि वह कृष्ण की लीला को अत्यत निकट से देखे। नन्ददास का एक पद है—

देखौ देखौ री नागर नट,
नितत कालिंदी तट,
गोपिन के मध्य राजै मुकुट लटक।
काछिनी किंकिनी कटि, पीताम्बर की चटक,
कुंडल किरन रवि-रथ की अटक।
ततथेई ताताथेई सबद सकल उघट,
उरप तिरप गति परै पग की पटक।
रास में राधे राधे, मुरली में एक रट,
नन्ददास गावै तहँ निपट निकट॥

यह लीला या रसभाव ही भक्त का अंतिम ध्येय था क्योंकि "लीला था एव प्रयोजन्त्वात्" (अणुभाष्य)। भगवान और भक्त दोनों के दृष्टिकोण से युगल मिलन, रास, लीला—यही अंतिम वांछा है।

९—कृष्णविरह

नन्ददास के काव्य में कृष्णविरह की सुन्दर व्याख्या हुई है। वे कहते हैं—

कृष्णविरह नहिं विरह प्रेम-उच्छलन कहावै
निपट परमसुख-रूप, इतर सब दुख बिसरावै

गोपियों को गर्व हो गया था कि वे कृष्ण की परम कृपात्री हैं। नन्ददास का कहना है कि शुद्ध प्रेम में गर्व नहीं रहता—

गरवादिक जे कहे काम के अंग आहिं ते
सुद्ध प्रेम के अंग नाहिं, जानहिं प्राकृत वै

कृष्ण को गोपियों के काम-भाव को विशुद्ध निःसीम प्रेम में बदलना था। इसीसे उन्होंने गोपियों से अंतर्धान होकर उनके गर्व का परिहार किया। इसके अतिरिक्त गर्व प्रेम-विध्वंसक भाव है। प्रेमी-शिरोमणि कृष्ण इस प्रकार के भाव को कब सह सकते हैं—

जब जब जे उद्‌गार होइ अति प्रेम-विधुंसक
सोइ सोइ करै निरोध, गोपकुल केलि उतंसक
नहिं कछु इन्द्रियगामी, कामी कामिन के बस
सब घट अंतरजामी स्वामी परम एकरस
नित्य आत्मानद, अखड सरूप उदारा
केवल प्रेम सुगम्य, अगम्य अवर परकारा
(सि० पं०, १७३–१७८)

गोपियों ने 'जग उधारन-कारन' (वही, १८३) गुरु होकर यह प्रेम-मार्ग दिखलाया। इस प्रकार हम जानते हैं कि 'परम प्रेम' (विरह-मंजरी, १), उज्ज्वल रस (सि० पं०, १८८८) आदि शब्दों मे नन्ददास ने गोपीप्रेम को सासारिक प्रेम से अलग करने की चेष्टा की है। परन्तु उन्होंने अनिवार्यतः इस प्रेम को शृङ्गार-शास्त्र पर ही खड़ा किया है क्योंकि प्रकार-भेद होने पर भी भूमि एक ही जैसी है। विरह-मंजरी और रसमंजरी में शृङ्गार-शास्त्र को प्रेम-भक्ति का अंग बनाने का प्रयास हुआ है। विरहमंजरी ऋतुसंहार के ढंग पर लिखा बारह-मासा है, परन्तु साथ ही चन्द्रदूत की कल्पना भी मेघदूत के ढंग पर की गई है और एक कथासूत्र भी खड़ा किया गया है। ब्रजबाला चंद्र को दूत बनाकर भेजती है, बारहों महीनों में विरहिणी की व्यथा का चित्रण है। प्रातः सोकर उठती है तो बंसी की ध्वनि सुनाई पड़ती है। बछड़ा मिलाने के बहाने दौड़ती है, बाहर पौर पर कृष्ण हैं जो

('अंतरजामी सबके जिय के') सब जानते हैं। वास्तव में इस रचना में कवि ब्रज के विरह की व्याख्या करना चाहता है। वह कहता है—ब्रज का प्रेम-वियोग सुलभ नहीं पाता, अच्छे-अच्छे इसमें उलझ जाते हैं। ब्रज के विरह ४ प्रकार के हैं—

(१) प्रत्यक्ष
(२) पलकातर
(३) बनांतर
(४) देशांतर

विरह प्रेम की भूमिका है—

जे घट विरह अवा अनल, परिपक भये सुभाइ
तिनहीं घट मैं नन्द हो, प्रेम-अमी ठहराइ

(वि० मं०, १५)

प्रत्यक्ष विरह राधा का विरह है जो नवनिकुञ्ज-सदन में कृष्ण के साथ विहार कर रही है, परन्तु संयोग में भी वियोग का अनुभव कर कहती है—

मेरे लाल कहाँ री ललिता

इस प्रकार संभ्रमवश मिलन भी वियोग हो जाता है। पलकातर विरह में प्रेमिका प्रेमी को देखना चाहती है, वह सामने है, परन्तु पलकों की बाधा भी उसे सहन नहीं। बनातर प्रेम गोपियों का है। कृष्ण वन को गाय चराने जाते हैं तो भी गोपियों को प्रेम के कारण चैन नहीं पड़ता—

नैन, बैन, मन, श्रवन सब जाइ रहै पिय पास
तनक प्रान घट रहत हैं फिरि आवन की आस

(वही, ३१)

देशांतर विरह में कृष्ण की मथुरा, द्वारिका आदि की लीलाओं की याद कर उनसे स्मृति में तदाकार स्थापित किया जाता है। बारहमासा इसी विरह का फल है।

रसमंजरी नायक-नायिका-भेद का ग्रन्थ है, परन्तु इसे भी कृष्ण-प्रेम की भूमिका के साथ उपस्थित किया गया है—

नमो नमो आनन्दघन, सुन्दर नन्दकुमार
रसमय, रसकारन, रसिक, जग जाके आधार

है जु कछुक रस इहि संसार, ताकौ प्रभु तुमहीं आधार
ज्यौं अनेक सरिता जल बहे, आनि सबै सागर में रहे
जग में कोउ कवि बरनौ काही, जो जस रस सब तुम्हरै आही
ज्यौं जलनिधि तै जलधर जल लै, बरखै, हरखै अपने कर लै
अग्नि तै अनगन दीपक बरैं, बहुरि आनि सब तामैं रहैं
ऐसैं ही रूप प्रेम रस जो है, तुमतैं है, तुमही करि सोहै

रूप प्रेम आनन्द रस, जो कछु जग मे आहि
सों सब गिरिधर देव को, निधरक बरनौं ताहि

(रसमंजरी, १–१०)

इस भूमिका के सिवा 'नायिका-भेद' से कृष्ण-कथा या भक्ति का कोई सम्बन्ध उस प्रकार स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है, जैसा 'उज्ज्वल नीलमणि' में। वास्तव मे, हिन्दी कृष्ण-काव्य में गोपियों में नायिका-भेद की स्थापना नहीं हुई है—केवल अभिसारिका, खडिता या प्रेषित-पतिका ही हैं। परन्तु फिर भी इतने प्रसग से ही इस शास्त्र का अध्ययन करना कृष्ण-कवि के लिए आवश्यक हो जाता था।

पुष्टिमार्ग में कृष्ण परम प्रेममय, परम नायक माने गये हैं। साथ ही प्रेम के आश्रय होने के कारण वे परम रूपमय भी हैं। रूप-मंजरी में इसी नाते नन्ददास कहते हैं—

प्रथमहिं प्रनऊं प्रेममय, परम जोति जो आहि
रूप उपावन, रूपनिधि, नित्य कहत कवि ताहि

सांसारिक प्रेम को कृष्ण-प्रेम की ओर ही अभिमुख करना पुष्टिमार्गीय कवि का काम था। अतः रूपमंजरी में इस प्रकार की कथा की योजना की गई है (दे० कथा)। इसे ही कवि ने 'परम प्रेमपद्धति' (रूप०, ३) कहा है। इसे वे 'सूच्छम मग' भी कहते हैं—

पैये कौ प्रभु के पंकज पग, कविन अनेक प्रकार कहे मग
तिनमैं इह इक सूच्छम रहैं, हौं तिहि बलि जो इहि चलि चहै

कथा की भूमिका में दर्शन स्पष्ट है—

पुनि प्रनऊं परमातम सोई, घट-घट, विघट पूरि रह्यौ जोई
ज्यों जल भरि बहु भाजन माहीं, इन्दु एक सबही में छाहीं
जु कछु मानसर ससि की झाईं, सो न छुद्र छिल्लर छवि पाईं
तरनि किरन सब पाहन परसै, फटिक माझ निज तेजहि दरसै
स्वाति बूँद अहि मुख बिस होई, कदलीदल कपूर होइ सोई
जुवन रूप सँग सोभा पावै, सो कुरूप ढिग बदन दुरावै
एकै पट अनेक रँग गहै, सुरँग रंग सँग अति छवि लहै
पुनि जस पवन एकरस आही, वस्तु के मिलत भेद भयौ ताहीं
रविकर-परसि अग्नि जिहिं होई, सो दरपन जग विरलै कोई

जगमग-जगमग करहिं नग, जौ जराइ सँग होइ
काँच किरन कंचन खचे, भलौ न कहियै कोइ

(रूप०, ६—१५)

इस कहानी में स्पष्ट रूप स्वीकार किया गया है कि संसार का सब सौंदर्य, प्रेम, ऐश्वर्य भगवान के भोग के लिए है, मनुष्य के भोग के लिए नहीं। इस प्रकार इन्द्रियों को लौकिक विषयों से हटा कर कृष्णान्मुख करने की चेष्टा की गई है। यहाँ "परकीया" रति की भी व्यवस्था

है। रूपमंजरी का प्रेम परकीया का प्रेम है, यद्यपि कृष्ण स्वप्न में ही मिलते हैं, साक्षात् में नहीं। इससे स्पष्ट है कि अतिनिंदित परकीया प्रेम को वैष्णव भक्तों ने केवल एक मानसिक आध्यात्मिक अवस्था माना है। कहानी का मतव्य है—

> जदपि अगम तैं अगम अति, निगम कहत है जाहि
> तदपि रँगीले प्रेम तैं, निपट निकट प्रभु आहि
>
> (५७८, ५७९)

वास्तव में सूफी सम्प्रदाय की भाँति पुष्टिमार्ग में भी 'विरह की साधना' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे 'प्रेम की पीर' की साधना लिखा है) की प्रधानता थी। इसी विरह-साधना को विरहमंजरी और रूपमंजरी की नायिकाओं के षट्ऋतु और बारहमासे से संकेतित किया गया है। इस विरह की साधना को ही प्रेमभक्ति (रूपमंजरी, ५८८), परमरस (वही, ५९६), परम कांतएकांत (वही, ५९६) और 'उज्ज्वलरस' (वही, ५९७) कहा गया है। यह स्पष्ट है कि वल्लभकुल के भक्त कृष्ण के प्रति एकांत-निष्ट प्रेम को शृङ्गार (लौकिक प्रेम) से अलग करने के लिये बराबर शब्द गढ़ते रहे हैं जिससे उसकी अलौकिकता साधारण जनों के मन में पैठ जाये। इतना होने पर भी यदि जन भ्रष्ट हो जायें, तो उनका क्या दोष? नन्ददास स्पष्ट कहते हैं—

> बिन अधिकारी भये, नहि न वृन्दावन सूझै
> रेनु कहाँ तै सूझै, जब लगि वस्तु न बूझै
> निपट निकट ज्यौं घट मैं अंतरजामी आहीं
> विषय विदूषित इंद्री पकरि सकै नहिं ताहीं
>
> (वही, ५८३—५८६)

यह रहस्यलीला हीनश्रद्धा, निन्दक, नास्तिक, हरिधर्मबहिर्मुख मनुष्यों

की समझ में आ ही नहीं सकती, यह तो भक्तों के ही लिये है (देखिये रासपंचाध्यायी, ५८७—५९६)

इस प्रकार नन्ददास के काव्य में गोपी-प्रेम का विशद विवेचन हो जाता है। सिद्धांत-पंचाध्यायी (२१७—२१८) में कवि स्पष्ट कहता है कि उनका प्रेम वासनामय था (काम), परन्तु वही कृष्णोन्मुख होकर निःसीम प्रेम (परमरस) हो जाता है। गोपियाँ कृष्ण के रूप से आसक्त हुई थीं, परन्तु यही रूप-प्रेम उनकी कृष्ण-प्राप्ति का कारण हुआ। मुरली का आह्वान रूप-लोभ को अध्यात्म रस में परिणित कर देता है। जो गोपियाँ नहीं आ पातीं उनका घोर विरह-दुख उनकी कामनाओं को भस्म कर देता है—

परम दुसह श्रीकृष्ण विरह-दुख व्याप्यौ जिनमैं
कोटि बरस लगि नरक-भोग-अघ भुगते छिन मैं
पुनि रचक धरि ध्यान पियहिं परिरंभ दियौ जब
कोटि स्वर्ग-सुख मुगति, छीन कीने मंगल सब

(रास० पं०, १२७—१३०)

इस प्रकार कृष्णरस-प्राप्त करने वाली आत्मा का पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल सब नष्ट हो जाता है। नन्ददास के अनुसार गोपियों का प्रेम परकीया प्रेम है—

रस में जो उपपति-रस आही
रस की अवधि कहत कवि ताही

(रूप मंजरी, १६६)

यह 'परकीया प्रेम' ही पुष्टिमार्गीय साधना का अंतिम ध्येय है। राधा और रुक्मिणी दोनों का प्रेम स्वकीया का प्रेम है, दोनों विवाहिताएँ हैं (देखिये, श्यामसगाई और रुक्मिणीमंगल) परन्तु गोपी-प्रेम इनसे

भी बड़ा है। इसीसे नन्ददास के ग्रन्थों में राधा का चित्रण नहीं मिलेगा।

इस प्रकार हम नन्ददास के काव्य में कृष्ण-भक्ति और शृंगार का तादात्म्य देखते हैं। अणुभाष्य में वल्लभाचार्य इस भक्ति और शृंगार के द्वन्द को स्पष्ट शब्दों में रखते हैं—

वस्तु तस्तु ग्रामसिंहस्य सिंहस्वरूपत्वेऽपि न तादृग्रूपं वक्तुं शक्यं तथा लौकिकपुंसि नाम्यां वा तदाभासो रसशास्त्रे निरूप्यते तद्दृष्टान्तेन भगवद्भाववद् भगवद्भक्तरीति भावनार्थं न त्वृषीणं लौकिके तात्पर्य्यं भवितुमर्हति (३-३-५७)। परन्तु यह स्पष्ट है कि जब स्वयं आचार्य रसशास्त्र को नहीं छोड़ सकते तो फिर भक्त कवियों के लिए शृंगार रसशास्त्र की उपेक्षा करना कहाँ सम्भव था ? मधुरी भक्ति को कबीर के काव्य में ही हम रसशास्त्र (शृंगार) की सहायता से प्रकाशित होता हुआ पाते हैं। उन्होंने 'राम की बहुरिया' बन कर अदृष्टसत्ता के प्रति वियोग और संयोग के गीत गाये हैं। आधुनिक विद्वान भी इस बात से सहमत हैं कि प्रेम की उच्चतम स्थिति का प्रकाशन प्रेमी-प्रेमिका के रूपक से ही हो सकता है—

"मनुष्यों के सम्बन्धों में सबके घनिष्ट सम्बन्ध दाम्पत्य प्रेम का है। ईश्वर और मनुष्य का सम्बन्ध इससे ऊँचा और बढ़ा-चढ़ा होना चाहिये। यही शृंगारी उपासकों की उपासना का मूल आधार है। जो सम्बन्ध हमारे ज्ञान के सबसे उत्तम हो, ईश्वर का सम्बन्ध उससे भी अधिक उत्तम होना चाहिये। यूरोप के भी ईसाई सम्प्रदाय को मसीह की स्त्री माना है और दाम्पत्य प्रेम को प्रेम का आदर्श कहा है। सुलेमान का गीत जो श्रेष्ठ गीत कहा जाता है, शृंगार की भाषा से परिपूर्ण है। (नवरस, पृ० १३६—१३७)

वल्लभाचार्य के समय में ही कृष्ण-कथा में शृंगार का मेल हो गया था। विद्यापति, हरिवंश, हरिदास, तानसेन, सूरदास प्रभृति गायक-भक्त

जयदेव की शृंगार-भक्ति (मधुराभक्ति) की परम्परा को तेज़ी से आगे बढ़ा चुके थे। नन्ददास के काव्य मे पहली बार सिद्धान्त के रूप में शृंगार और मधुराभक्ति के तादात्म्य की स्वीकृति है।

१०—निरोध

वल्लभाचार्य के अनुसार भागवत निरोध ग्रन्थ है, इसलिए वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों को काव्य रूप में समेटने के लिए नन्ददास ने उसका भाषानुवाद उपस्थित किया है। उन्होंने भागवत दशमस्कंध के कविताबद्ध भाषानुवाद में पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों को एक बार फिर उपस्थित करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से यह अनुवाद महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार भागवत दशमस्कंध "आश्रय वस्तु कौ रसमय सिन्धु" है। आश्रय वस्तु के नव लक्षण हैं (१) सर्ग, (२) विसर्ग, (३) स्थान, (४) पोषन, (५) ऊति, (६) मन्वंतर, (७) नृपगन तोषन (८) निरोध, (९) मुक्ति। सर्ग का अर्थ है महदादिक कारनवर्ग की सृष्टि। कारणों से विश्व जन्म लेता है, इसे ही विसर्ग कहते हैं। सूर्यादिक मर्यादा धारण करनेवाले "स्थान" (थान) हैं—भक्त के दोषों के रहते भी आश्रय उनकी रक्षा करते हैं, इसे पोषन कहते हैं। साधु-असाधु वासना जहाँ हो वहाँ ऊति। 'मन्वंतर' समीचीन धर्म की व्याख्या जैसे मुचकद आदि की कथा। निरोध के अर्थ हैं दुष्टनृपों का अघोवहरन। मुक्ति का अर्थ है अन्य रूप का त्याग और निज स्वरूप की प्राप्ति। यही आश्रय दशमस्कध के रूप में भक्तों के हित प्रगट हुआ है। दसवें स्कंध में जो निरोध है, उसके कई भेद हैं—

(१) दुष्टनृपदलन (साधारण, इसे सब जानते हैं)

अन्य भेद अद्भुत और असाधारण हैं—

(२) भक्तहिं इतर विषैते निरोध। उतहिं मोक्षसुख तें अवरोध॥
सुद्ध प्रेममधि प्रापति करै। इक निरोध इहि विधि विस्तरै॥

ज्यौं व्रजवासिन मोक्ष दिखाइ। ब्रह्मानन्द बहुरि लै जाइ ॥
मधुर मूर्ति बिन जब अकुलाने। तब फिरि बहुरयौ व्रज ही आनै

(३) जदपि कोटि ब्रह्माड के कर्ता। अरु तिनके भर्ता-संहर्ता ॥
परम सनेह भक्ति होइ जाके। ईश्वरता कछु फुरै न ताके ॥
ज्यौं जसुमति मुख मैं जग पैख्यौ। सुत ईश्वर करि नाहिंन लेख्यौ ॥
ललित बाललीला लपटानी। सो वह भूतक्रिया सी जानी ॥

(४) अब सुनि कृष्ण विषैक निरोध
जदपि अनन्त अखण्डित बोध
सो सब रंचक ताहि न फुरै
जब हठि मातस्तन अनुसरै
(५) अवर निरोध-भेद जे आहि
रसलीलन में, लीज्यौ काहि

ऊपर के सिद्धान्तों और वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों में कुछ अन्तर जान पड़ता है। जिन्हें नन्ददास ने आश्रय वस्तु के लक्षण कहा है वे वास्तव में वल्लभाचार्य के दिये भागवत के स्कधों के नाम हैं। उन्होंने दशमस्कध को 'निरोध' विषय का ग्रथ कहा है। इसके अतिरिक्त नन्ददास ने जो इन शब्दों की व्याख्या की है, वह भी उनकी अपनी है। इस भेद का कारण यह है कि उन्होंने दशमस्कध में ही सब कुछ पा लेने की चेष्टा की है।

वल्लभाचार्य 'निरोध' और "पुष्टि" को लगभग साम्यवाची शब्द मानते हैं। पुष्टि के सम्बन्ध मे उन्होंने अणुभाष्य में लिखा है—

कृतिसाध्य साधनं ज्ञान भक्तिरूपं शास्त्रेण बोध्यते । ताभ्यां विहिताभया मुक्तिर्मर्यादा। तद्रि हितानामपि स्व स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते ।

(शास्त्र कहते हैं कि ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है और ,तद्विहित

साधन से भक्ति मिलती है। इन साधनों की प्राप्ति का नाम मर्यादा है। ये साधन सर्वसाध्य नहीं। अतः अपनी ही शक्ति से ब्रह्म जो मुक्ति भक्तों को प्रदान करता है, वह पुष्टि कहलाती है)। स्त्री पुत्रादि के विषय में आसक्ति को रोक भगवान का भक्त (जीव) को स्वासक्त करना—यही निरोध (रोकना) है। 'निरोध लक्षणम्' में आचार्य लिखते हैं—

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्तएव वात्रे मोदमायांत्यहर्निशं ॥

(भगवान के द्वारा जो छोड़ दिये गये हैं, ये संसार सागर में डूब गये हैं, और जो निरुद्ध किये गये हैं वे रातदिन आनन्द में लीन हैं।) 'तदीय सर्वस्व' में इसकी व्याख्या करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द लिखते हैं—

'इस वाक्य से यह दिखाया कि निरुद्ध होना स्वसाध्य नहीं है। जिनको वह (ईश्वर) चाहता है निरुद्ध करता है, नहीं तो उसे छोड़ देता है। मनुष्य का बल केवल उस मार्ग पर प्रवृत्त होना है, परन्तु इससे निराश न होना चाहिए कि जब अंगीकार करना वा न करना उसी के आधीन है, तो हम क्यों प्रयत्न करें। हमारे क्लेश करने पर भी वह अंगीकार करे या न करे, ऐसी शंका कदापि न करना।' इस 'निरोध'-मार्ग में भक्त की साधना क्या है, यह आचार्य के इस स्वानुभूति-प्रकाशक उद्धरण से स्पष्ट होगा—

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम् क्वचित्॥
गोकुले गोपिकानं च सर्वेषां ब्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥

(जो दुःख यशोदा नन्दादिकों एवं गोपजनों को गोकुल में हुआ था, वह दुख मुझे कब होगा ? गोकुल में गोपीजनों एवं सभी ब्रजवासियों को जो भलीभाँति सुख हुआ वह सुख भगवान् कब मुझे देंगे ? उद्धव के आने पर जैसे वृन्दावन और गोकुल में महान् उत्सव हुआ था, क्या वैसा मेरे मन मे भी होगा ?) इस दुख-सुख की अनुभूति ही निरोध-भाव है, इसी के द्वारा भगवान भक्त को लौकिक आसक्ति से बचाता है। ऐसा भाव जिसे प्राप्त हुआ, उसे निरोध प्राप्त हुआ। उसे कीर्तन और गुण एवं लीलागान ही करना रह जाता है। सूरदास ने आचार्य के निरोधतत्त्व को पूर्णतः पहचाना था और उन्होंने सूरसागर का ढाँचा इसी के विकास के लिए खड़ा किया। नन्ददास ने निरोध की जो व्याख्या दी है—

दुष्ट नृपन को हरन अबोध
ताकौ बुधजन कहत निरोध

उससे तो यही समझ में आता है कि वे आचार्य के मूल सिद्धान्त से दूर जा पड़े थे। वास्तव में यह युग की विश्लेषण-प्रकृति की कृपा है कि नन्ददास ने 'निरोध' के कई प्रकार कहे हैं। दूसरे अर्थ हैं (१) विषयसुख और मोक्षसुख के स्थान पर शुद्ध प्रेम-सुख की प्रतिष्ठा, (२) भक्त को ईश्वरता का भाव होना भी निरोध है, (३) रासलीला का सौन्दर्य। इन अर्थों में 'मूलार्थ' में खींचातानी ही की गई है।

११—साधन

पीछे लिखा जा चुका है कि 'गोपीप्रेम' या 'परकीयाप्रेम' को नन्ददास कृष्ण प्राप्ति का सर्वोच्च साधन मानते हैं। साधन की श्रेष्ठतम व्याख्या 'भँवरगीत' में है। नन्ददास का भँवरगीत भी सिद्धान्त ग्रन्थ के अन्तर्गत आता है। वह सूरदास के भ्रमरगीत की तरह एक साथ विरह-काव्य और ज्ञान पर प्रेमभक्ति की विजय प्रतिपादित करने वाला

ग्रन्थ नहीं है। सूरदास के भँवरगीत के तीन पक्ष है—(१) साहित्यिक—गोपियों का विप्रलंभ (२) अध्यात्म—भगवान के प्रति जीव का निर्हेतुक समर्पण (३) सैद्धांतिक—ज्ञान और योग पर प्रेममार्ग की विजय। परन्तु सूरदास का सिद्धान्तवाद भी उस श्रेणी का नहीं है जिस श्रेणी का नन्ददास का सिद्धान्तवाद है। सूरदास विरहमूलक काव्योत्कर्ष के द्वारा प्रेममार्ग की विजय घोषित करते हैं, परन्तु नन्ददास निर्गुण-सगुण का पचड़ा सुलझाने में तार्किक दार्शनिक की तरह लग जाते हैं। इस तरह उनका ग्रन्थ शुद्ध सैद्धातिक ग्रंथ हो जाता है।

इसीलिए ग्रन्थ भूमिका बिना ऊधो के उपदेश से ही आरम्भ हो जाता है। ऊधो निर्गुणपक्ष को उपस्थित करते हैं, गोपियाँ सगुणपक्ष को। ऊधो का निर्गुणपक्ष इस प्रकार है—

वे तुम तैं नहिं दूर, ग्यान की आँखिन देखौ
अखिल विश्व भरपूर, ब्रह्म सब रूप बिसेखौ
लौह, दारु, पाषान मैं, जल-थल माहिं अकास
सचर, अचर, बरतत सबै, जोति ब्रह्म परकास

सुनौ ब्रजवासिनी (३०—३५)

१—वह हृदयस्थ ब्रह्म है, और साथ ही

२—विश्वव्यापी ब्रह्म है। वे कहाँ नहीं!

(गोपियाँ ब्रह्म और ज्ञान को नहीं मानती हैं, वे तो कृष्ण के मोहक रूप पर मुग्ध हैं और प्रेम का सीधा मार्ग जानती हैं)

३—जिस रूप से उन्होंने ब्रजलीला की, वह तो 'सगुन' रूप है, वास्तव में वे निर्गुन हैं, निर्विकार, निर्लेप हैं—

अच्युत जोतिप्रकास हैं, सकल विश्व को प्रान

४—वे ही अच्युत, लीला-गुन के कारण अवतार धारण करते हैं।

५—योग ही उनकी प्राप्ति का साधन है।

गोपियाँ कहती हैं—

तबही लौं सब व्यर्थ है, जब लौं हरि उर नाहिं
कर्म बंध सब विश्व के, जीव विमुख ह्वै जाहिं

—सखा सुनि स्याम कै

गोपियाँ कहती हैं—

वेदहु हरि के रूप, स्वास मुख तैं जो निसरै
कर्म, क्रिया, आसक्ति, सबै पिछली सुधि बिसरै
कर्ममध्य ढूढ़ैं सबै, किनहुँ न पायौ देख
कर्मरहित ही पाइये, तातैं प्रेम विसेख

—सखा सुनि स्याम कै

कर्म और अकर्म, पाप-पुण्य सब बंधन हैं, प्रेम के आगे यह बंधन ठहर नहीं सकता—

कर्म पाप अरु पुन्य लौह सोने की बेरी
पाइन बंधन दोउ कोउ मानौ बहुतेरी
ऊँच कर्म तैं स्वर्ग है, नीच कर्म तैं भोग
प्रेम बिना सब पचि मरे, विषय वासना रोग

—सखा सुनि स्याम कै

गोपियाँ जानती हैं कि सब गुन कृष्ण में ही हैं—

जौ उनके गुन नाहिं, और गुन भये कहाँ तैं
बीज बिना तरु जमै, मोहिं तुम कहौ कहाँ तैं

या गुन की परछाँहि री, माया-दर्पन बीच
गुन तैं गुन न्यारे भये, अमल वारि मिलि कीच

—सखा सुनि स्याम के

गोपियों का प्रेमदर्शन स्पष्ट है—

जोगी जोतिहिं भजैं, भक्त निज रूपहिं जानैं
प्रेमपियूषै प्रगट स्याम सुन्दर उर आनैं

उनके अनुसार मोहनगुन ही वेद-पुराणों का सार है, इसके सिवा कोई आत्मसिद्धि है ही नहीं (२६५—२७०)। निर्गुन का आधार सगुण ही तो है (२७५)।

पुष्टिमार्ग में मर्यादा, ज्ञान और कर्म का बाध है। भगवान की प्रेमासक्ति (कुल की लज्जा लोपि) ही साध्य है। गोपियाँ मर्यादा मेट कर ही कृष्ण को पाती हैं। नन्ददास ने हारे हुए उद्धव के मुँह से पुष्टिमार्ग के प्रेमतत्त्व को इस प्रकार कहलाया है—

जे ऐसैं मरजाद मैटि, मोहन कौं ध्यावैं
क्यौं नहिं परमानन्द, प्रेम पदवी कौं पावैं
ग्यान जोग सब कर्म तैं, प्रेम परे हैं साँच
हौं नहिं पटतर देत हौं, हीरा आगे काँच

विषमता बुद्धि की ३२०

इस प्रेमासक्ति की प्राप्ति मुख्यतः भगवत्कृपा (पुष्टि) पर अवलंबित है। परन्तु फिर भी भक्त की आत्मशुद्धि तो वांछनीय है ही। दुविधा ग्यान का नाश और मन की शुद्धि से ही इस प्रेम की प्राप्ति होती है (२२०)। इसके लिए कुछ साधन भी कहे गये हैं। वे हैं—(१) नाम-जप (२) रूपचिंतन (३) गुनगान (४) गोपी-प्रेम (विरह) का आत्मानुभव। अन्य गौण साधन हैं, गुरुभक्ति और

सत्संग (साधु-संग)। ऊपर के चारों साधन क्रमशः उत्तरोत्तर भाव-विलास के द्योतक हैं। नन्ददास ने एक पद में विट्ठलनाथ द्वारा प्रचारित भक्तिमार्ग के प्रकारों को इस प्रकार लिखा है—

> पुष्टि भजन मर्यादा रस सेवा निजजन पोषण भरणं
> नन्ददास प्रभु प्रकट रूप धर श्रीविट्ठलेश गिरिवर शरणं

इन पुष्टि, मर्यादा, भजन, रस, सेवा के ५ मार्गों में से नन्ददास की आसक्ति रसमार्ग की ओर अधिक थी।

४

नन्ददास का पदावली साहित्य (गीतिकाव्य)

नन्ददास का पद-साहित्य अपेक्षाकृत कम है। अष्टछाप के कवियों में सबसे अधिक गीतिकाव्य सूरदास ने लिखा है, इसके बाद परमानन्ददास, कृष्णदास आदि का नम्बर आता है। फिर नन्ददास हैं। नन्ददास अपने पदों के लिए न प्रसिद्ध हैं, न उनके पद साहित्यिक एवं साम्प्रदायिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण हैं। उनका महत्व उनके भँवरगीत, रासपंचाध्यायी, सिद्धांतपचाध्यायी और पचमंजरी ग्रंथों के कारण है जो खडकाव्य या कथात्मक काव्य और सिद्धांत-ग्रन्थों की श्रेणी में आते हैं। इन ग्रथों की काव्य-सम्पदा की विवेचना हमने पिछले अध्याय में की है।

परन्तु नन्ददास के गीतिकाव्य (पदावली) का अध्ययन अन्य दृष्टि से किया जा सकता है। अष्टछाप के कवि अच्छे गायक भी थे और यह गुण नन्ददास में भी प्रचुर मात्रा में मिलता है। अतः संगीत की दृष्टि से तो वे 'सफल काव्य के प्रणेता हैं ही, परन्तु हमें उनके पदावली-साहित्य के अध्ययन से अष्टछाप की रचनाओं में सूरदास के प्रभाव और विट्ठलनाथ के सम्प्रदाय-निर्माता रूप का प्रमाण मिलता है।

सूरदास के पदों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभकुल (अष्टछाप) के सब कवियों से उनमें सम्प्रदाय की छाप बहुत कम है। इस "छाप" की कमी का संकेत हमें 'वार्ता' में दिए हुए सूरदास के अंतिम समय के उद्‌गार से भी मिलता है। जब सूरदास

पारसौली में मृत्युशय्या पर थे तो कृष्णदास ने उनसे प्रश्न किया है कि उन्होंने गुरु की प्रशंसा में कुछ क्यों न कहा ? इसके उत्तर में सूरदास ने अपनी सारी रचना को ही गुरु-प्रसाद बतलाया और यह पद गया—

भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो
श्रीवल्लभ नखचन्द्र छटा बिन सब जग माँझ अँधेरो
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निबेरो
सूर कहा कहै दुबिध आँधरो बिना मोल को चेरो

इस पद को छोड़ कर सूर ने गुरु-वंदना के नाम पर बहुत कम, प्रायः नहीं ही, कहा है। विठ्ठलनाथ के समय में गुरु की मान्यता बढ़ी। नन्ददास विठ्ठलनाथ की पीढ़ी में थे, सूरदास वल्लभाचार्य की पीढ़ी में—उनसे एक पीढ़ी बड़े। अतः सूरदास के साहित्य में विठ्ठलनाथ की "अष्टछाप" की गुरुछाप कुछ भी नहीं मिलती। नन्ददास ने तो कितने ही पदों में गुरुवन्दना की है जैसे

प्रात समै श्रीवल्लभ-सुत कौ उठतहि रसना लीजै नाम
आनँदकारी, मंगलकारी, असुभहरन जन पूरनकाम
इहलोक परलोक के बन्धु, को कहि सकै तिहारे गुनगाम
'नन्ददास' प्रभु रसिकसिरोमणि, राज करौ गोकुल सुखधाम

गुरु-पिता, समुदाय के आदि प्रवर्तक, श्रीवल्लभ के लिए भी उनके लिए इससे कम श्रद्धा नहीं है, जितनी राम के लिए तुलसी के हृदय में है। वे तुलसी की ही स्तोत्र-शैली में कहते हैं—

जयति रुक्मिनीनाथ, पद्मावतिपति, विप्रकुलछत्र, आनन्दकारी
दीप-वल्लभ-वंस, जगत निस्तम करन, कोटि उडुराजसम तापहारी
जयति भक्तिपति, पतितपावन करन, कामीजन कामना पूर्नचारी
मुक्तिकाङ्क्षीयजन, भक्तिदाइक प्रभू, सकल सार गुनगनन भारी
जयति सकल तीरथ फलै, नाम सुमिरन मात्र, बात व्रज नित्य गोकुल विहारी
'नन्ददासन' नाथ पिता गिरिधर आदि प्रगट अवतार गिरिराजधारी

विट्ठलनाथ के समय में यह गुरुमान्यता इतनी तीव्र थी कि गुरु को 'कृष्ण' का स्थान मिल रहा था। जन्म, बधाई, पालना, हिंडोला, बाल-लीला—वल्लभ और उनके पुत्र कृष्ण के स्थान में रख लिए गए थे और रचनाएँ हो रही थीं। इसी प्रकार जागरण, शयन आदि नित्याचारों में वल्लभ और विट्ठल-भक्ति का आरोपण था जैसे—

प्रातः समय श्रीवल्लभ सुत को पुण्य पवित्र विमल यश गाऊँ
सुन्दर सुभग बदन गिरिधर को निरखि-निरखि दृग-दृगन सिराऊँ
मोहन मधुर बचन श्रीमुख के श्रवण सुनि-सुनि हृदय बसाऊँ
तन-मन-प्राण निवेदि वेद विधि यह अनुनयों हो सुफल कराऊँ
रहौं सदा चरणन के आगे महाप्रसाद उच्छिष्ट पाऊँ
नन्ददास यह माँगत हौं श्रीवल्लभकुल को दास कहाऊँ

लक्ष्मण घर आज बाजत बधाई
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम श्रीवल्लभ सुखदाई
नाचत तरुण वृद्ध और बालक उर आनन्द समाई
जय जय यश बन्दीजन बोलत विप्रन वेद पढ़ाई
हरद दूब अच्छत दधि कुंकुम आगन बीच मचाई
बंदनमाला मालिन बाँधत, मोतिन चौक पुराई
फूले द्विज बरदान देत हैं पट भूषण पहराई
मिट गये द्वन्द नन्ददास के मनवांछित फल पाई

गुरुभक्ति के उदाहरण के तो अनेक पद मिलते हैं, जैसे—

श्रीविट्ठल मंगल-रूप-निधान
कोटि अमृतसम हँस मृदु बोलन सबके जीवनप्रान

भजो श्रीवल्लभसुत के चरणं
नन्दकुमार भजन सुखदायक पतितन पावन करणं
दूरि किये कलि कपट वेद निधि मत प्रचंड विस्तरणं

अति प्रताप महिमा समाज यश शोकताप भयहरणं ;
पुष्टि मर्यादा भजन रस सेवा निज जन पोषण भरणं ।
नन्ददास प्रभु प्रकट रूप धर श्रीविट्ठलेश गिरिवर धरण

पुष्टिमार्ग में यमुना का बहुत महत्व है । वल्लभाचार्य और विट्ठलेश्वर दोनों ने यमुनाष्टक लिखे हैं । उनके अनुसार यमुना

१—श्रीकृष्ण की प्रीति को बढ़ाने वाली हैं

(मुकुन्दरतिवर्द्धिनी २)

२—श्रीकृष्ण की चौथी पटरानी हैं

(कृष्णतुर्य प्रियाम् ३)

३—कृष्ण-रूप हैं

(अनत गुण भूषिते शिवविरचि देवस्तुते
घनाघननिभे सदा ध्रुव पराशराभीष्टदे
विशुद्ध मथुरातटे सकल गोपगोपी वृतै
कृपाजलधि सश्रिते ममभनः सुख भावयः ४

कृष्ण के सब गुण यमुना में संस्थापित हैं)

४—वह हरि को प्रिय है

(प्रियो भवति सेवनात्तव हरेर्यथा गोपिकाः ६)

५—श्रीकृष्ण की जलकेलि के कारण धन्य है

(सकल गोपिका सगम स्मरश्रम जलाशुभिः सकलगात्रजैः संगम)

नन्ददास और अन्य पुष्टिमार्गीय कवियों की कविता में भी यमुना-वर्णन और यमुना-भक्ति के सुन्दर पद मिलेंगे, जैसे—

१ भक्त पर करि कृपा यमुना ऐसी
छांड़ि निज धाम विश्राम भूतल कियो प्रकट लीला दिखाई जो तैसी
परम परमार्थ कारण है पवन को रूप अद्भुत देत आप जैसी
नन्ददास जो जानि दृढ़ चरण गहै एक रसना कहा कहूँ वैसी

२ नेह कारण यमुना प्रथम आई
भक्त की चित्त वृत्ति सब जानही ताहिते अति ही आतुर जो धाई

३ यमुने युमने यमुने गावो
शेष सहस्र मुख गावत निशिदिन पार नहीं पावत ताहि पावो

४ भाग्य सौभाग्य यमुना जो दे री
बात लौकिक तजे पुष्टि यमुना भजे लाल गिरिधरण को ताहि वर मिलै री
भगवदी संग करि बात उनकी ले सदा सान्निध्य रहे केलि में री
'नददास' जो जाहि वल्लभकृपा करे ताके यमुना सदा वश जो रहे री

विट्ठलनाथ के समय में उत्सवों आदि के मनाये जाने की चाल चली—इसके लिए नैमित्तिक कीर्तन गाये जाने लगे। ऐसे कई उत्सवों से सम्बन्धित पद हमें नन्ददास की नामछाप से मिलते हैं। स्पष्ट है, ये पद नैमित्तिक कीर्तनों के लिए ही बनाये गये हैं। जिन उत्सवों के सम्बन्ध में ये पद हैं, वे हैं—१ अक्षयतृतीया, २ गनगोर, ३ रथयात्रा, ४ रक्षा-बंधन, ५ फाग, होली, चाचर, ६ हिंडोल, फूलडोल, घटा, ७ रास। इनके अतिरिक्त कृष्ण के जन्म और बालविकास से सम्बन्धित अनेक पद गढ़े गये हैं, जैसे—जन्मोत्सव के पद, इस जन्मोत्सव पर बधाई, ढाढ़ी के पद, पालना आदि के पद गाये जाते थे। ढाढ़ी के पद सूरदास में भी हैं और नन्ददास उन्हीं से प्रभावित हुए हैं। वास्तव में अलौकिक कृष्ण ब्रज के इन आचार-विचारों के साथ नित्य जीवन में हिलेमिले लौकिक कृष्ण प्रतिष्ठित हो चुके थे। ऐसे नैमित्तिक कीर्तनों के समय गाये जाने वाले पदों के कुछ उदाहरण देकर हम इस प्रसंग को आगे बढ़ायेंगे।

अक्षयतृतीया

चदन पहर नाव हरि बैठे संग वृषभान दुलारी हो
यमुना पुलिन शोभित तहाँ खेलत लाल बिहारी हो
त्रिविधि पवन बहत सुखदायक सीतल मंद सुगध हो
कमल प्रकाश कुसुम बहु फूले जहाँ राजत नंदनद हो
अक्षयतृतीया अक्षयलीला संग राधिका प्यारी हो
करत विहार सब सखी सों नन्ददास बलिहारी हो

गनगोर

छबीली राधे पूज लेनी गनगोर
ललिता बिसाखा सब मिलि निकसीं आइ वृषभान की पौर
सघन कुंज गहबर बन नीको मिल्यो नन्दकिशोर
नन्ददास प्रभु आय अचानक घेर लियो चहुँओर

रथयात्रा

देखो भाई नंदनंदन रथ ही बिराजे
संग सोहे वृषभान - नंदनी देखत मन्मथ लाजे
ब्रजजन सब मिलि रथ खेंचत हैं शोभा अद्भुत छावे
सीतल भोग धर करत आरती नन्ददास गुण गावे

रक्षाबंधन

राखी नदलाल कर सोहे
पचरँग पाट के फुँदना राजत, देखत मन्मथ मोहे
आभूषन हीरा के पहिरे लाल पाट के मोहे
'नन्ददास' वारत तन-मन-धन गिरिधर श्रीमुख जोहे

फाग, होली

आज हरि खेलन फाग बनी
इत गोरी रोरी भर झोरी उत गोकुल को धनी

चोवा को ढोवा कर राख्यो केसर कीच घनी
नन्ददास प्रभु संग होरी खेलत मुरमुर जात अनी

राधा बनी रंगभरी होरी खेले अपने प्रीतम के संग ।। टेक ।।
×× काहू पे अरगजा रंग को काहू पे केसर को रंग ।
कोउ गोरी मृगमद लिए होत भ्रमर जहाँ पंग ।।
तिनमें मुकुटमनि लाड़िली सोहत अति सुकुमार ।
लटक चलत ज्यों पवन तें कोमल कंचन डार ।।
पिय कर पिचकारी देख के त्रिय नयना छवि सो ढराय ।
खंजन से मानो उड़हि चलेंगे ढरक मीन बहे जाय ।।
छिरकत पिय जब त्रियन कों जो मन उपजे आनंद ।
मानो इन्दु सुधाकर सींचत जों कुमुदिन को वृन्द ।।
भीजे बसन तनतन लपटाने बरणत बरण्यो न जाय ।
उपमा देन न देत नयन राखे हाहा खाय ।।
रंगरंगीली राधिका रंगरंगीलो पीय ।
यह रंगभीने नित्य बसो नन्ददास के हीय ।।

हिंडोल

डोल झुलावत सब ब्रजसुन्दरि झूलत मदनगोपाल
गावत फाग धमार हरख भर हलधर और सब ग्वाल
फूले कमल केतकी कुंजों गुंजत मधुप रसाल
चंदन वदन चोवा छिरकत उड़त अबीर गुलाल
बाजत वेणु विषाण बाँसुरी डफ मृदंग और ताल
नन्ददास प्रभु के संग विलसत पुण्यपुंज ब्रजबाल

फूलडोल

माई फूलन को हिंडोरो बन्यो फूल रही यमुना
फूलन के खम्भे दोउ फूलन की डाँडी चार

फूलन की चौकी बनी हीरा जगमगना।
फूले अति बसीवट फूले हैं यमुनातट
सब सखी मिलि गावें मन भयो मगना
फूल सखी चहूँ ओरें थोरे थोरें
नन्ददास फूले जहाँ मन भयो मगना

इन उत्सवों के अतिरिक्त नित्य-सेवा में कृष्णलीला के पद बराबर गाये जाते थे, जैसे मंगला के समय दान, पनघटलीला और खंडिता के पद; ग्वाल के समय बालकृष्ण की शोभा के पद; राजभोग के समय वनविहार और कलेउ के पद। नन्ददास के काव्य में इन विषयों पर कितने ही पद मिलते हैं, परन्तु उन्होंने सूरदास की भाँति सम्बद्ध रूप से दानलीला, पनघटलीला और खडिता आदि प्रसंगों पर रचनायें नहीं कीं। कीर्तन करने का काम पहले कृष्णदास को सौंपा गया था, फिर सूरदास को। जब सूरदास कहीं चले जाते थे, तो नन्ददास को कीर्तन का भार सौंप जाते थे। यह फुटकर प्रसंगात्मक पद इसी प्रकार रचे गये होंगे। उनमें न उतना चमत्कार है जितना सूर के पदों में, न उतना लीला-रस। परन्तु कुछ ऐसे विषयों पर भी नन्ददास के पद मिलते हैं जो साधारणतः सूर में नहीं मिलते। वल्लभकुल में राधा-कृष्ण की नित्य परिणीता हैं, परकीया नहीं, अतः उनका लग्नोत्सव और विवाहोत्सव भी मान्य है। इसीसे हम नन्ददास के काव्य में ऐसे गीत पाते हैं, जैसे—

१ सजनी उर आनन्द न समाऊँ
बरसाने वृषभान लगन लिखि पठई हे नन्द गाऊँ
धौरी धूमरी धेनु विविध रंग शोभित ठाऊँ ठाऊँ
भूषण मणिमण पार नाहिंते सो धन देख लुभाऊँ
नन्ददास लाल गिरिधर की दुलहनि पर बलि जाऊँ

२ दूलह गिरिधर लाल छबीलो दुलहिन राधा गोरी जू
जिन देखत जिय में मन लाजत ऐसी बनी है जोरी
रत्नजटित को बन्यो सेहरो उर मोतिन की माला
देखत बदन श्याम सुन्दर को मोहि रही ब्रजबाला
मदनमोहन राजत घोरा पर और बराती संगा
बाजत ढोल दमाम चहुँ दिशि ताल मृदग उपंगा
जाय जुरे वृषभानु की पौरी उत तें सब मिलि आए
टीको करि आरती उतारी मंडप में पधराए
पढ़त वेद चहुँ दिशा विप्रजन भये सबन मन भाए
हथलेवा करि हरि राधा सों मंगलचार पढ़ाए
ब्याह भयो मोहन को जबहीं यशुमति देत बधाई
चिर जीयो भूतल यह जोरी नन्ददास बलि जाई

इनमें राधा-कृष्ण के दुलहा-दुलही रूप का वर्णन है। जब हम देखते हैं कि सूरसागर में स्पष्टतः कृष्ण-राधा के विवाह की कथा गाई गई है, तो पुष्टिमार्ग और परवर्ती काव्य पर सूर के प्रभाव को आँक सकते हैं।

नन्ददास के पदों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कृष्ण-कथा को उस प्रकार कथात्मक गीति काव्य के रूप में नहीं लिखा, जिस प्रकार सूरदास ने लिखा है। वे दशमस्कंध में इस प्रकार की कथा भागवत के आधार पर कह चुके थे। जैसा हम अन्यत्र बता चुके हैं उनमें नवीन कथासृष्टि की मौलिकता भी नहीं थी। अतः उन्होंने न कृष्ण-कथा को कथारूप में लिखा, न कथा के सब प्रसंगों पर गीत गाये। अलौकिक प्रसंगों में केवल गोवर्धनलीला पर दो एक पद मिलते हैं—

कान्ह कुंवर के कर पल्लव पर मानो गोवर्द्धन नृत्य करै
ज्यों ज्यों तान उठत मुरली की त्यों त्यों लालन अधर धरै

मेघ मृदंगी मृदंग बजावत दामिनि दमक मानों दीप जरै
ग्वाल ताल दे नीके गावत गायन के संग सुर जो भरैं
देत असीस सकल गोपीजन बरखा को जल अमित झरै
अति अद्भुत अवसर गिरिधर को नन्ददास के दुःख हरै

राजे गिरिराज आज गाय गोप जाके तर
नेक सी बानिक बने धरे भेख नटवर
लियो हे उठाय ब्रजराय के कुंवर कर
अरग धरग राख्यो मुरली की फूंक पर
बरसे प्रलय के पानी न जात काहू पैं बखानी
ब्रजहू ते अति भारी टूटत है तर तर
तापर के खगमृग चातक चकोर मोर
बूंद न काहू के लागि भयो हे कौतुक भर
प्रभु जू की प्रभुताई इंद्रहू की जड़ताई
मुनि हँसे हेर हेर हरि हँसे हर हर
नन्ददास प्रभु गिरिधारी जू की हाँसी खेल
इंद्र को गर्व गयो भये हें दूर घर

परन्तु अधिकांश पद उन्हीं प्रसंगों पर हैं जो या तो सम्प्रदाय के नित्य और नैमित्तिक कीर्तन के लिए मान्य थे, या जिनमें काव्यरस की दृष्टि से नन्ददास की शृङ्गारिक वृत्ति रुचि ले सकती थी। दूसरे प्रकार के कई प्रसंग हैं—पनघटलीला, दानलीला, रास, फाग, खंडिता, मान और मानमोचन। जिन साम्प्रदायिक प्रसंगों का सम्बन्ध उपरोक्त विषयों से है जैसे हिंडोला, फूलडोल आदि, वे भी अच्छे बन पड़े हैं।

नन्ददास ने बाललीला पर बहुत कम पद लिखे हैं, यद्यपि उनका एकान्ततः अभाव नहीं है। इन रचनाओं पर भी सूरदास का प्रभाव

स्पष्ट रूप से अंकित है। वास्तव में भाषा, मूर्तिमत्ता, शैली सब पर सूरदास का प्रभाव लक्षित है। नन्ददास जैसे पंडित, रसिक, सौन्दर्य प्रिय, 'जड़िये' कवि को कृष्ण की किशोरवय और यौवन की शृंगार (मधुरी) लीला ही रुच सकती थी, बाललीला के पद तो उन्होंने वल्लभकुल में दीक्षित होने के नाते लिख भर दिए हैं। नन्ददास का एक पद है—

चिरैया चुहचुहानी, सुनि चकई की बानी
कहति जसोदा रानी, जागौ मेरे लाला
रवि की किरन जानी, कुमुदिनी सकुचानी
कमल विकसानी, दधि मथै बाला
सुबल सुदामा तोक उज्ज्वल बसन पहिरे
द्वारे ठाढ़े हेरत हैं बालगोपाला
नन्ददास बलिहारी उठि बैठौ गिरिधारी
सब कोउ देख्यौ चाहैं लोचन बिसाला

इसकी तुलना सूरदास के इस पद से कीजिये—

जागिए गुपाललाल आनन्दनिधि नन्दबाल
यसुमति कहै बार बार भोर भयो प्यारे
नैन कमल से विशाल प्रीति वापिका मराल
मदन ललित बदन उपर कोटि वार डारे
उगत अरुन विगत सर्वरी ससांक किरन—
—हीन दीन दीपक मलीन छीन दुति समूह तारे

तो सारे पद पर सूरदास का व्यापक प्रभाव जान पड़ेगा। एक दूसरा पद है—

बाल गोपाल ललन कौ, मोद भरी जसुमति दुलरावति
मुख चूमति, देखति सुन्दर तन, आनन्द भरि भरि गावति

कबहुँक पलना मेलि झुलावति, कबहुँक अस्तन पान करावति
'नन्ददास' प्रभु गिरिधर कौं रानी निरखि निरखि सुख पावति

इस सूर के पद से तुलना कीजिये—

जसुमति लै पलिका पौढ़ावति
मेरौ आज अतिहिं विरुझानौ यह कहि मधुरे सुर गावति
पौढ़ि गई तब हरुए-करिकै अंग मोरि तब 'हरि जमुहाने
कर सौं ठोकि सुतहिं हुलरावति चटपटाइ अतुराने

नन्ददास ने बन से लौटते हुए कृष्ण का चित्र इस प्रकार उपस्थित किया है—

बन तैं आवत गावत गौरी
हाथ लकुट गैयन के पाछें ढोटा जसुमति कौ री
मुरली ऊधर धरे नन्दनन्दन, मानौं लगी ठगौरी
याही तैं कुलकानि हरी है, ओढ़े पीत पिछौरी

सूरदास लिखते हैं—

हरि आवत गाइनि के पाछे
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल नयन विसाल कमलतैं आछे
मुरली अधर धरन सीखत हैं बनमाला पीताम्बर काछें
ग्वाल-बाल सब बरन-बरन के कोटि मदन के छवि कियौ पाछे

इन उद्धरणों के बाद नन्ददास की पदावली पर सूरदास के प्रभाव के सम्बन्ध में ज़रा भी सन्देह नहीं रह सकता। अन्त में हम सूरदास की शैली से मिलती हुई नन्ददास की दो रचनाएँ उद्धृत करते हैं—

१—सुन्दर श्याम पालनैं झूले
जसुमति माय निकट अति बेठी निरखि-निरखि मन फूले
झुनझुना लेके बजावत रुचिसौं लाल ही के अनुकूले

बदन चारु पर छूटी अलक रही देखी मिटत उर सूले
अम्बुज पर मानहु अलिछोनाँ घिरि आए बहु टूले
दसन दोउ उघरत जब हरि के कहा कहुँ समतूले
नन्ददास घन में ज्यों दामिनि चमकी डरत कछु खूले

२—निरंजन अंजन दिये सोहे नन्द के आँगन माई
सब के नैन प्रान प्रकाशित ताके ढिंग रच्यो चरवोडा
छाजे छवि न कही जाई

निगम अगम जाकों बोले सो अलबल कल कछु कहत बनाई
नन्ददास जाकी माया जगत भूल्यो सो भूल्यो अपनी परछाई

सूरदास के काव्य से परिचित पाठक इस श्रेणी की सूर की कितनी ही कविता उपस्थित कर सकेंगे, यद्यपि नन्ददास में ऐसी कविताएँ विरल ही हैं। वैसे सूरदास का प्रभाव सभी क्षेत्रों में है, परन्तु बाललीला में सबसे अधिक है।

शृंगारलीला के पदों में नन्ददास ने भाषा के निजत्व के सहारे मौलिक होने का प्रयत्न अवश्य किया है यद्यपि अनेक स्थानों पर उन्हें सूरदास की शैली ही अपनानी पड़ी है जैसे—

बड़े-बड़े बार पाछे छूटे अति छाजें
मानहु मकरध्वज चमर विराजें
बदन सलिल कण जगमग जोती
मानों इंदु सुधा तामें अमीमय मोती
आधो मोतीहार चारु उर रह्यो लसी
कनकलता तें मानों उदय होत ससी
पुन सुरसरी सम मोतिन के हारा
रोमावलि निलि मानों यमुना की धारा

पीक झलकन सौहैं सरस्वती ऐनी
परम पावन देखी मदन त्रिवेनी

(राधा का रूपवर्णन दूती के मुख से—विद्यापति की इस प्रकार की रचनाओं से भी तुलना कीजिये)

फिर भी अधिकांश पदों में न कला का वह रूप निखरता है, न भाषा का, जो भँवरगीत, रासपंचाध्यायी आदि प्रौढ़ रचनाओं की विशेषता है। जान पड़ता है, नन्ददास ने अधिक पद दीक्षाकाल के कुछ बाद ही लिखे हैं। उनमें सूरदास की गुरु-छाप पग-पग पर दिखलाई पड़ती है। कुछ तो उनकी भाषा में तत्सम शब्दों का उतना प्रयोग नहीं जितना सूर के पदों की भाषा में, कुछ उनका प्रारम्भिक अभ्यास काल—ये रचनाएँ सूर के काव्य से परिचित व्यक्ति को कुछ अटपटी लगती है। यही नहीं, स्वय नन्ददास के प्रौढ़तम काव्य से परिचित पाठक उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखेगा।

नन्ददास के पद-काव्य में विरह के पदों का नितात अभाव है परन्तु जो नन्ददास के सिद्धात से परिचित हैं वे जानते हैं कि देशातर विरह (प्रवास) उन्हें मान्य ही नहीं है, बनातर विरह में इतनी तीव्र वेदना नहीं हो सकती, जितनी मथुरा-गमन में। पलकातर विरह को अवश्य स्थान मिला है जैसे—

देखन देत न वैरिन पलकें
निरखत बदन लाल गिरिधर को बीच परत मानो वज्र को सलकें
बन तें जु आवत वेणु बजावत गोरज मंडित राजत अलकें
माथे मुकुट श्रवण मणि कुंडल ललित कपोलन झाँई झलके
ऐसे मुख देखन को सजनी कहा कियो यह पुत कमल कें
'नन्ददास' सब जड़न की यह गति मीन मरत भायें नहिं जल कें

इस विरह-काव्य के अभाव में नन्ददास की शृंगार-पदावली अधूरी ही रह जाती है। उसमें केवल संयोग का ही चित्रण रह जाता है। रास-पंचाध्यायी और भँवरगीत दोनों में प्रसगवश गोपियों के विरह का चित्रण बहुत सुन्दर हुआ है और कवि इन स्थलों पर काव्य और कला के ऊँचे स्तरों पर उठा हुआ है। इससे हम यह समझते हैं कि वास्तव में जहाँ वह कथात्मक विरह-प्रसग घटा सके, वहाँ नन्ददास की कला को ऊँचा उठने का मौक़ा ही कहाँ रह गया। यह सिद्धांतों की काव्य पर विजय है। वास्तव में नंददास का काव्य सिद्धांतों से पग-पग पर झगड़ता है, उनकी विवेचना करता है और अंत में हार जाता है।

५

नन्ददास की भक्ति

भक्ति का अर्थ है शुद्धात्मक, भावुकतामय, विशेष व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण। यह एक धार्मिक एवं आध्यात्मिक स्थिति है। ऋग्वेद के साहित्य में ही हम इन्द्र, वरुण, प्रजापति इत्यादि देवताओं के प्रति भक्ति के चिन्ह पाते हैं। परन्तु उपनिषदों में भक्ति का स्थान आत्म-चिंतन और उपासना (गुरु के पास रह कर साधना) ने ले लिया। उस समय से भक्ति के दो रूप हो गये, एक आत्म-चिंतन-मूलक ज्ञान-कर्मकाड-प्रधान, दूसरा भावुकतामय।

जान पड़ता है भक्ति के जिस रूप से आज हम परिचित हैं, वह बौद्धकाल की वस्तु है। धीरे-धीरे बुद्ध का मानवीय व्यक्तित्व लोप हो गया, और उनके प्रति प्रेमभाव ने श्रद्धा की बलवती भावना को और भी विकसित किया। महायान में इस भक्ति का पूरा विकास हुआ। बौद्ध मंदिरों और विहारों में बुद्धों, अवलोकितेश्वर और वज्रसत्व की मूर्तियाँ स्थापित की गईं, और गीत और गान के साथ उनकी नित्य पूजा चली। यह महायान जब धीरे-धीरे हिन्दू धर्म के सामने पराजित हुआ, तो वह पहले अपनी अनेक संस्थाओं का प्रभाव हिन्दू मतवाद पर छोड़ चुका था। भक्ति की संस्था भी इनमें एक है।

ईसवी शताब्दी दो में वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान हुआ। उस समय गुप्त राजाओं ने 'महावैष्णव' की उपाधि धारण की। विष्णु विशेष पूजित हुए। उनके मन्दिर भी स्थापित हुए। परन्तु शिव, ब्रह्मा कार्तिकेय, सूर्य आदि अनेक देवी-देवता भी इसी समय जनता के अनेक

वर्गों में भक्ति और श्रद्धा पाने लगे। धीरे-धीरे बाह्य क्रियाओं के साथ अंतस्चेतना भी विकसित हुई। भक्त प्रार्थी के रूप में भगवान (उपास्य) के सामने आया। प्रार्थना के वही रूप चले—

१—स्वरूप-चिंतन (या उपास्य के रूप का वर्णन)

२—शील-गुण चिंतन (उसके सम्बन्ध की कथायें)

३—दैन्यभाव (उपास्य से दीनता का सम्बन्ध जोड़ना)

४—प्रेम-भाव

पहले, दो भाव-स्रोतों में, दूसरे दो पदों के (गीतों के) रूपों में प्रकाशित हुए।

गुप्तों से राजपूतों तक विष्णु और शिव की भक्ति का विशेष विकास हो चुका था और भारत के कोने-कोने में बड़े-बड़े मन्दिर और चैत्य भरे पड़े थे। मन्दिरों के लिए राजाओं और जनता में महान उत्साह था। उनकी सम्पत्ति करोड़ों की होती थी। जब मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया (११वीं शताब्दी) तो इन मन्दिरों से अपार सम्पत्ति लूटी गई और विदेश गई। तब तक पूजा के बाह्य रूपों का मान अधिक था, बड़े समारोह से पूजा होती। आत्म-ग्लानि और आत्म-चिंतन की मात्रा उत्तर में शंकराचार्य के पदों में और दक्षिण में अलवारों के पदों में मिलती है।

अलवारों के गीतों (पदों) में लगभग ८०० वर्ष पहले तक की भक्तिभावना के विकास का इतिहास मिलता है। उसके बाद भक्ति का रूप व्यापक हो गया था।

यह कहना ठीक नहीं है कि भक्ति का प्रादुर्भाव मुसलमानों के आक्रमण के फलस्वरूप हुआ। भक्ति की धारा अनेक स्रोतों में होकर लगभग ८-१० शताब्दियों से बह रही थी। भक्ति का पहला सामूहिक उत्थान त्रिदेवों की भक्ति को लेकर चला जिसमें विष्णु और शिव की प्रधानता थी। वैष्णव भक्ति का विकास पहली दो शताब्दियों में उत्तर

भारत में विशेष रूप से हुआ, परन्तु बाद को विष्णुभक्ति दक्षिण में ही विशेष विकास को प्राप्त हुई। १०वीं शताब्दी में वैष्णवभक्ति फिर उत्तर भारत में आई। दक्षिण के अलवार भक्तों से प्रभावित आचार्य उत्तर भारत के मध्ययुग की भक्ति के आदि प्रवर्तक हुए। परन्तु इस सारे काल में वैष्णव-भक्ति का उत्तर भारत में भी काफी महत्त्व था यद्यपि राजाश्रय शिव-भक्ति और शक्ति-भक्ति को ही प्रश्रय दे रहा था। बंगाल शाक्त था। राजपूतों का पश्चिमी और मध्यभारत में प्राधान्य था, वे शिव के उपासक थे। कुछ राजपूतों में भवानी (शक्ति) की सेवा चल रही थी। बंगाल में महायान की उत्तराधिकारिणी, अनेक देवियों की पूजा भक्ति चल रही थी।

मुसलमानों के आने से दो शताब्दियों पहले से भक्ति के एक नये रूप की प्रतिष्ठा हो गई थी। इसका आधार था विष्णु के अवतार राम और कृष्ण। दोनों की भक्ति में अन्तर था—एक में सेवक-सेवा भाव की प्रबलता थी, दूसरी में माधुर्य भाव की। इन दो भक्ति शाखाओं का प्रवर्तन दो संस्कृत ग्रन्थों से हुआ। राम-भक्ति आध्यात्म रामायण से, कृष्ण-भक्ति भागवत से। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि ये ग्रन्थ पूर्ण विकसित रूप में प्राप्त हुए। १ली शताब्दी से १०वीं शताब्दी तक अनेक पुराण और काव्य रामकृष्ण-कथा को विकसित कर चुके थे और इन्हें विष्णु के श्रेष्ठतम अवतारों के रूप में उपास्य माना जा चुका था। परन्तु १०वीं शताब्दी तक के रामकृष्ण-सम्बन्धी संस्कृत साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि तब तक जनता में इन अवतारों के प्रति वह प्रगाढ़ भक्तिभावना नहीं उत्पन्न हुई थी जो बाद में प्रस्फुटित हुई। संस्कृत में कृष्णकाव्य पर सामग्री केवल पौराणिक कथाओं के रूप में मिलती है, महाभारत और भास के कुछ नाटकों में अवश्य कृष्णलीला को विषय बनाया गया है। राम सम्बन्धी साहित्य प्रचुर है—रूप-वैभिन्न्य और मात्रा दोनों में। महाकाव्य, गद्यकाव्य, चपू, नाटक, इन सभी साहित्यिक रूपों में राम-सम्बन्धी

कथावस्तु अनेक प्रकार से सजा कर रखी गई है और चरित्र एवं कथा-सम्बन्धी नई-नई उद्भावनाएँ स्थान-स्थान पर हैं, परन्तु उनमें भक्ति का पुट नहीं है। हाँ, अगले युग में भक्तिभावना ने इन नवीन उद्भावनाओं को नई वीथिका देकर और उज्ज्वल अवश्य कर दिया है।

शांडिल्य भक्तिशास्त्र, नारद भक्तिसूत्र, भागवत, आध्यात्म, रामतापनी उपनिषद् आदि ग्रंथों में भक्ति का विशद विवेचन एवं विश्लेषण है। इन्हीं पर विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों और उनके साहित्य की नींव रखी गई है। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति की भावना किसी प्रकार विदेशी नहीं है। उसका मूल इसी देश की धर्म-भावना में है। ईसा-पूर्व की पाँचवी-छठी शताब्दी से वासुदेव धर्म का कोई-न-कोई रूप मिलता है। वही वासुदेव धर्म भागवत, नारायणी और वैष्णव मतों को प्राप्त हुआ।

जैसा हम पहले कह चुके हैं वैष्णव-भक्ति का पहला भावोल्लास अलवारों की कविता में मिलता है। इससे प्रभावित आचार्य उत्तरापथ में भक्ति के प्रवर्तक हुए। ये केवल भक्त ही न थे—शास्त्रों के ज्ञाता, संस्कृत के पंडित और प्रसिद्ध दार्शनिक थे। इनमें शङ्कराचार्य प्रथम हैं। इनका समय ईसा की ८वीं शताब्दी से १०वीं शताब्दी तक माना गया है। यद्यपि शङ्कर ब्रह्मवादी थे, उन्होंने ज्ञान को ही परमात्मसत्ता से परिचय का साधन माना है, परन्तु उनकी कितनी ही रचनाओं में ही शिव आदि के प्रति भक्ति-भाव के प्रचंड दर्शन होते हैं। परन्तु पहली बार वैष्णव-भक्ति की प्रबल धारा बहाने वाले यामुनमुनि के शिष्य श्री रामानुजाचार्य (१०१६ ई०—११३६ ई०) थे। इन्होंने विष्णु और लक्ष्मी को अपना आराध्य माना था। इनकी ही शिष्य परम्परा में १४वीं शताब्दी में रामानन्द हुए जिन्होंने रामसीता की पूजा-भक्ति को प्रधानता दी। रामानन्द सम्प्रदाय इस वैधीभक्ति को

लेकर चला। इसके प्रधान कवि: कबीर (१५वीं शताब्दी) और तुलसी (१५४७—१६२७) हुए।

इस रामभक्ति के साथ-साथ उससे भी अधिक प्रबल धारा के रूप में कृष्णभक्ति चली। जिन प्रसिद्ध आचार्यों ने इसके प्रवर्तक और प्रवर्द्धन में सहायता की वे हैं मध्वाचार्य (लगभग १२०० ई०), निम्बार्क स्वामी (१२ वीं शताब्दी), विष्णु स्वामी (१३वीं शताब्दी) और वल्लभाचार्य (जन्म १४७६ ई०)। इन आचार्यों ने राधा-कृष्ण की अनेक रूपों से व्याख्या की, श्री शङ्कराचार्य के मायावाद के सामने सगुण अवतारवाद को रखा। चैतन्य (१४८५ ई०—१५३३ ई०) और उनके अनुयायिकों ने कृष्णभक्ति को भावप्रवण रूप देने में विशेष योग दिया।

इसी ग्रंथ में अन्य स्थान पर हमने वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों की विशेष विवेचना की है और यह भी बताया है कि उन्होंने बाल-कृष्ण के प्रति वात्सल्यभाव से भक्ति का ही आयोजन खड़ा किया था। उनके भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त हमें उपलब्ध नहीं हैं—केवल "निरोधलक्षणम्" के ही हम उनके कुछ अवशेष पाते हैं। इससे प्रगट होता है कि वल्लभाचार्य भक्ति में कर्म-काड की नितात अवहेलना का भी उपदेश करते थे, उनके अनुसार भक्त नंद-यशोदा, गोपी-गोप भाव से कृष्ण से अपना अत्यत समीप का भावुक सम्बन्ध जोड़े और अपने हृदय में इनकी अनुभूति-प्राप्ति की चेष्टा करे। नन्द-यशोदा का कृष्ण के प्रति भाव वात्सल्य का था इसमें कोई भेद ही नहीं। इसलिए यह तो निर्विवाद है कि वल्लभ वात्सल्य भक्ति के उपदेशक थे। गोपों का भाव भी या वात्सल्य का होगा, या सख्य का। इस प्रकार सख्य भक्ति की भी आयोजना हो जाती है। परन्तु गोपियों के भाव से ये उनका तात्पर्य क्या था, यह चिन्त्य है। भागवत से हमें मालूम होता है कि कुछ गोपियाँ वात्सल्य भाव से कृष्ण से स्नेह रखती थीं, कुछ जार-भाव से, कुछ पत्नी-भाव से। किस प्रकार का सम्बन्ध आचार्य

को ग्रहीत है, यह हम नहीं कह सकते। परन्तु उन्होंने कभी भी गोपियों के भाव का उल्लासपूर्ण शृङ्गारिक वर्णन नहीं किया। उन्हें "श्रुतियों का अवतार" "समारोह-रूपा लक्ष्मी" कह कर उनके काम-भाव का परिष्कार ही किया है। इससे तो यही समझ पड़ता है कि वे मधुर भक्ति के पोषक नहीं थे, यद्यपि चैतन्य के मित्र होने के नाते उसके स्वरूप और साहित्य से वे विशेष रूप से परिचित रहे होंगे। उन्होंने कहा भक्त का मुख्य भाव "पुष्टि" होना चाहिए। वह अपने को भगवान की कृपा पर डाल दे, वही उसका पोषण करेंगे, उसके भक्तिभाव को दृढ़ करेंगे, और अनायास ही परिश्रम विगत कर उसे भवसागर से तारेंगे। बाद को सम्प्रदाय में किन-किन प्रभावों के कारण शृङ्गारभक्ति की प्रधानता हो गई, यद्यपि पूजोपचार बालकृष्ण का ही चलता रहा, यह हम अन्यत्र समझा चुके हैं।

इस प्रकार नन्ददास जब सम्प्रदाय में दीक्षित हुए तो उसमें भक्ति के तीन रूप प्रतिष्ठित थे—

(१) वात्सल्य

(२) सख्य

(३) मधुर या रति

नन्ददास के जीवन-वृतांत से यह स्पष्ट है कि उनमें रसिकता की मात्रा विशेष थी। वे बालक के हावभाव पर रीझने वाले पुरुष नहीं थे, उनकी सहृदयता शृङ्गार वर्णन में ही उमड़ती थी। वे पहले दास्य भाव के भक्त थे, परन्तु उनका मन इस प्रकार की भक्ति में नहीं लगता था, वे तब भी नाटक-तमाशे देखते थे। ये यात्रा के ढङ्ग के स्वाँग-में हुए रहे होंगे। इसीसे वात्सल्यरस की भक्ति की अधिक रचनाएँ उनके साहित्य में नहीं मिलतीं। वे सूरदास के शिष्य थे। इस नाते, कुछ सम्प्रदाय की बाल-भक्ति के अनुरोध से कुछ सुन्दर पद अवश्य उन्होंने रचे—

आज सिगार स्यामसुंदर को देखै ही बनि आवै
स्याम पाग अरु स्वेत चोलना छूटे बंद सुहावै
मोतिन माल हार उर ऊपर, कर मुरलीजु बजावै
'नन्ददास' प्रभु रसिककुंवर कौ लै उछंग हलरावै

यहाँ भी बालकृष्ण "प्रभु रसिककुँवर" ही है, 'नवनीतप्रिय' नहीं। एक पद है—

छगन मगन बारे कन्हैया नेंकु डरे धों आउ रे लाला
बन में खेलन जात लाल ह्वे रहे सब मलीन गात
अपने लाल की लेहुँ बलाय रे लाला
संग के लरिका सब बनि ठनि आये हो कहैंगे केसे
है तेरी माय रे लाला
यशोदा गहत धाय बैयाँ मोहन करत न्हैयाँ न्हैयाँ
नन्ददास बलि जाय रे लाला

एक दूसरे पद में उनका बालकृष्ण (नन्दसुवन) में भक्ति-भाव स्पष्ट रूप में प्रगट है—

नन्दभवन को भूषण माई
यशोदा के लाल वीर हलधर को राधा रवन सुखदाई
इन्द्र को इन्द्र देव देवन को ब्रह्म को ब्रह्म अधिक अधिकाई
काल के काल ईश ईशन को वरण को वरण महावरदाई
शिव को धन संतन को सर्वस महिमा वेद पुरान न गाई
नन्ददास को जीवन गिरिधर गोकुल मंडन कुवँर कन्हाई

एक अन्य गीत में वे बालकृष्ण भी क्रीड़ाभूमि के नाते ही नन्दगाँव में रहना चाहते हैं—

नन्दगाम लागत मोको नीको लागत री
प्रात समे दधि मथत ग्वालिनी सुनत मधुर ध्वनि गावत री
धन्य गोपी धन्य ग्वाल जिनके मोहन उर लागत री
हलधर संग ग्वाल सब राजत गिरिधर ले ले दधि माँगत री

जहाँ बसत सुरदेव महामुनि एकौ पल नहीं त्यागत री
नन्ददास को यह कृपाफल गिरिधर देखे मन लागत री

परन्तु मुख्य रूप से नन्ददास मधुर-भक्ति को ही साधना बनाकर चले हैं यद्यपि एकाध जगह सख्य-भक्ति भी मिल सकती है जैसे —

माई री प्रातकाल नन्दलाल पाग बंधावत
बाल दिखावत दर्पण भाल रह्यौ लीन
सुन्दर नव करन बीच मंजु मुकुर की छवि रही फबि
मानों गहि आन्यो है युग कमलन शशि
बिच बिच चित के चोर मोरचन्द्र माथे दिए
तिन ढिंग रत्नपेच बाँधत हे कस
नन्ददास ललितादिक ओट भये
अवलोकत अतुलित छवि कहि न जात फूल झरे हो

वास्तव में सख्य-भक्ति और मधुर-भक्ति में विशेष अन्तर नहीं था। सख्य-भक्ति में भक्त कृष्ण का सखा बन जाता था, और इस प्रकार अपने सख्य-भाव के कारण कृष्ण की गोप्य से गोप्य लीलाओं में भाग लेता था। कृष्ण की ये लीलायें उनका राधा और गोपियों से शृंगारिक हासविलास, क्रीड़ा, केलि, आलिंगन-परिरंभन-चुंबन-रति आदि ही हैं। इनमें भाग लेने के अधिकारी या तो ललितादि राधा की सखियाँ या "अष्टसखा" हैं। हम जानते हैं कि प्रत्येक अष्टसखा का एक कृष्णसखा से तादात्म्य कर दिया गया है। श्री द्वारकानाथ जी का छप्पय है—

सूरदास सो तो कृष्ण तोकों परमानन्द जानो
कृष्णदास सो ऋषभ छीतस्वामी सुबल बखानो
अर्जुन कुम्भनदास, चत्रभुजदास विशाल
विष्णुदास सो भोजस्वामी गोविन्द श्रीदामा लाल

यहाँ कदाचित् 'विष्णुदास' से 'नन्ददास' का ही तात्पर्य है। गो० हरिराय के 'भावप्रकाश' से प्रकट है कि नन्ददास श्रीनाथजी की दिवस की लीला में 'भोजसखा' के अवतार थे। परन्तु कृष्ण की सखियाँ भी थीं, और सम्प्रदाय में स्त्रियाँ स्वतन्त्र रूप से दीक्षित नहीं होती थीं, इसलिए इन्हीं 'अष्टछाप' के कवियों को रात्रि की लीला में अष्टसखियाँ बनना पड़ता है। नन्ददास श्री चन्द्रावली की सखी चन्द्ररेखा थे। साधना के इस प्रकार सखा-सखी-भाव को नन्ददास की रचनाओं पर क्या प्रभाव पड़ा, यह नहीं कहा जा सकता परन्तु कदाचित् यह साधना एवं भावोत्कर्ष पात्र के साधन थे। वैसे नन्ददास ने अपनी रचनाओं में कृष्ण की सभी गोप्य लीलाओं को अपना विषय बनाया है, और उनके अत्यन्त निकट उपस्थित होकर रचना की है। भावनाक्षेत्र से यह बात सम्भव है, यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से इसका कोई मूल्य नहीं है। उनका प्रसिद्ध पद है—

देखौ देखौ री नागर नट, निर्तत कालिंदी तट,
गोपिन के मध्य राजै मुकुट लटक
काछिनी किंकिनी कटि, पीताम्बर की चटक,
कुण्डल किरत रविरथ की अटक
ततथेई ताताथेई सबद करन उघट
उरप तिरप गति परै पग की पटक
रास में राधे राधे मुरली में एक रट
नन्ददास गावै, तहँ निपट निकट

यह पद जब देशाधिपति अकबर बादशाह के सामने गाया गया, तो उन्होंने पूछा—यह निपट निकट कैसा ? स्वयं नन्ददास ने इसे गोप्य रखा, परन्तु बीरबल ने उनकी आकस्मिक मृत्यु के बाद उसे बता दिया कि यह बात कैसे बताई जाती। विट्ठलनाथ जी ने भी नन्ददास की प्रशंसा

की। वास्तव में 'यह तो भाव की बात थी' इसे बताने के लिए नन्ददास के पास कौन-सा तर्क था, कौन से शब्द थे।

परन्तु नन्ददास को कोई भी पाठक इसे भूल नहीं सकता कि उन्होंने "रसिक, रसमय, रसकारन" नन्दकुमार को अपना विषय बनाया था। यही रसिकतापूर्ण भक्ति नन्ददास का विषय थी। इसे ही हम शृंगार-भक्ति या मधुर-भक्ति कह सकते हैं।

साधारण भक्ति और शृंगार-भक्ति में महान अन्तर है, नन्ददास के काव्य को समझने के लिए इस अन्तर को भली भाँति हृदयंगम कर लेना चाहिये। भक्ति को हम नवरसेतर एक रस कह सकते हैं। नवरसों में उसका सीधा सम्बन्ध शांत रस से है। शांतरस के सहायक अद्भुत और वीभत्स हैं। इन तीनों का सतोगुण से सम्बन्ध है। इस प्रकार साधारण भक्ति-काव्य में इन तीनों का समावेश होगा। इनमें वीभत्स-रस आत्म-रक्षा भाव से पलायन की प्रवृत्ति है। और अद्भुत रस में औत्सुक्य और निर्माण की प्रवृत्ति है। शांतरस स्वयम् निवृत्तिमूलक है, प्रवृत्तियों को उसमें स्थान नहीं मिलता। परन्तु भक्तिरस की वह सीढ़ी है। वस्तव में वीभत्स और औत्सुक्य से गुजर कर शांतरस में होता हुआ भक्त भक्तिरस को प्राप्त होता है।

शृंगारात्मक भक्ति का पहला उद्रेक कबीर में मिलता है। वे श्रद्धात्मक आदि सत्ता से प्रेमिका का नाता जोड़ते हैं और उसके विरह-मिलन के गीत गाते हैं। वास्तव में कबीर के भक्तिकाव्य में शृंगार के अतिरिक्त भी अनेक आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ मिलेंगी। तुलसी में भी लगभग यही प्रवृत्तियाँ कम अधिक मिलेंगी, परन्तु दैन्यभाव की अधिकता के कारण अस्तित्व-स्थापना का अभाव है। राम के प्रति जो उनका तीव्र आकर्षण है, वह ठीक उस तरह रतिभाव के अन्दर नहीं आता जैसे कबीर का राम के प्रति आकर्षण, यद्यपि रामचरितमानस की समाप्ति पर वे कहते हैं—

कामिहि नारि पियारि जिमि × × प्रिय लागो मोहि राम
(उत्तरकांड)

दैन्यभाव की अधिकता के कारण उनकी भक्ति श्रद्धामूलक है। वह श्रद्धात्मक है, दैन्यात्मक है, रागात्मक नहीं।

वल्लभाचार्य के मत में दैन्यभाव (अधीनता-प्रवृत्ति) का, जहाँ तक इष्टदेव का सम्बन्ध था, कोई स्थान नहीं था। उनकी भक्ति में मुख्य भाव या तो वात्सल्य था जिसके कारण स्नेहादि कोमल गुणों की उत्पत्ति होती है, या उत्सुकता का भाव, जिसने उन्हें कृष्ण की रहस्य लीलाएँ गाने को बाधित किया। उनकी सुन्दरतम कविता में न पलायन-वृत्ति है, न अंतर्मुखी द्वन्द की प्रवृत्ति, न आत्मघृणा-भाव, न अधीनता, न अस्तित्व स्थापन। उनकी भक्ति रागात्मक है। तीव्र राग केवल शृंगार की भाषा से ही प्रगट होगा। "मनुष्यों के सम्बन्धों में सबसे अधिक सम्बन्ध दाम्पत्य प्रेम का है। ईश्वर और मनुष्य का सम्बन्ध इससे भी ऊँचा और बढ़ा-चढ़ा होना चाहिये। यही शृंगारी उपासकों की उपासना का मूल आधार है। जो सम्बन्ध हमारे ज्ञान में सबसे उत्तम हो, ईश्वर का सम्बन्ध उससे भी अधिक उत्तम होना चाहिये। यूरोप में भी ईसाई सम्प्रदाय को मसीह की स्त्री मानता है, और दाम्पत्य प्रेम को प्रेम का आदर्श कहा है। सुलेमान का गीत, जिसको श्रेष्ठ गीत कहा जाता है, शृंगार की भाषा से परिपूर्ण है।" ('नवरस' पृ० १३६-१३७)

साधारण तौर पर मधुर भक्ति के अर्थ हैं—भगवान में प्रियतम या प्रियतमा-भाव। कबीर और मीरा इसके श्रेष्ठतम उदाहरण हो सकते हैं। परन्तु कृष्ण-भक्तों की भक्ति में मधुर-भक्ति इस रूप से नहीं आई है। गोपियों की भक्ति भक्त का आदर्श है। वह स्वयं गोपी बन कर प्रियतम के रूप में कृष्ण को नहीं रिझाता। उसकी भक्ति मन का ही संकल्प है। भक्त अपने मन में गोपियों की सी मिलनाकांक्षा और वियोग का अनुभव करता है। यह भक्ति वह कैसे प्रगट करे? क्या वह उस तरह का आत्माभिव्यक्ति-प्रधान काव्य लिखे, जैसा कबीर

के साहित्य में है। वह ऐसा नहीं करता। वह अपना आत्मचिंतन और आत्मसमर्पण गोपीकृष्ण के प्रेम-विरह में ही प्रगट करता है। गोपियों का मिलनसुख नन्ददास का ही संकल्पात्मक मिलनसुख है, उनका विप्रलंभ इनका ही संकल्पात्मक वियोग है। इस प्रकार कवि की सत्ता उसके काव्य में ही प्रतिष्ठित है। नन्ददास के काव्य में मधुर भक्ति का यही रूप है। राधाकृष्ण और गोपियाँ का जो संयोग-वियोग शृंगार है, वह नन्ददास को लेकर भक्ति ही है। उनकी तटस्थ भाव से इस लीला में भाग लेने और उसको आत्मा में अनुभव करने की भावना ही इसे भक्ति बना देती है। कबीर कहते हैं—

बालक आयो गेह रे

गोपियों का यह भाव इसी प्रकार यों है—

आज मेरे धाम आये री नागर नन्दकिसोर
धन दिवस धन रातरी सजनी धन माय सखी मोर
मंगल गावो चौक पुरावो वंदनवार बँधावो पौर
नन्ददास प्रभु संग रस बस कर जागत करहूँ भोर

दोनों में प्रकार को कोई अन्तर नहीं है। हाँ, गोपीकृष्ण या राधाकृष्ण का आश्रय ले लेने से संयोग-वियोग-प्रसंग और भी विस्तृत, विशद और नैकट्यपूर्ण रूप से प्रगट हो सका है। आज के मस्तिष्क-प्रधान अतिनैतिक युग में स्थूल संयोग के ऐसे चित्र अग्राह्य होंगे जैसे—

१—यमुनातट नव निकुंज द्रुम नवदल पहोप पुंज
तहाँ रची नागर वर रावरी उसीर की
कुमकुम घनसार घोर पंकज दल बोर बोर
चरच्चत चहुँ ओर अवनी पंकज पाटीर की
शोभित तन गौर स्याम सुखद सहज कुंजधाम
परसत सीतल सुगन्ध मदगति समीर की
नन्ददास पिय प्यारी निरख सखी ललिता ओट
स्रवन धुनि सुन किंकणी मँजीर की

२—कुसुम सेज पोढ़े दम्पति करत हे रस बतियाँ
त्रिविध समीर सीयरी उसीर रावरी मध
खसखाने सींचे सुमन झुकवत हे पिय छतियाँ
कपोल सों कपोल दिये भुज सों भुज मीढ़े
कुच उतंग पिय राजत हे मतियाँ
नन्ददास प्रभु कनक पर्यंक पर सब सुख मिलत
केलि करत मोहन एकगत भतियाँ

हो सकता है, इन संयोग-वियोग के प्रसंगों में नन्ददास ने जयदेव, ब्रह्मवैवर्त पुराण, विद्यापति और सूर की परम्परा को ही निभाया हो। परन्तु हम इतनी दूर जाने के लिए तैयार नहीं। नन्ददास के संयोग चित्र आध्यात्मिक नैकट्य के ही प्रतीक हैं, और उनके वियोगवर्णन में आध्यात्मिक विरह ही प्रकाशित हुआ है।

नन्ददास के सारे शृंगार-भक्ति काव्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं :

(१) जिसमें राधाकृष्ण का केलिविलास है। नन्ददास ने इसमें विरह को स्थान नहीं दिया है। राधाकृष्ण तो नित्य निकुंज-विहारी हैं, फिर प्रकृति-पुरुष में वियोग किस तरह संभव है। इस कथा में स्थूल शृंगार के दर्शन होते हैं। शृंगारशास्त्र का सहारा बहुत कम है—लीलाभाव की ही प्रधानता है। (लीलावत्तु कैवल्यम्—वल्लभा०)। यह काव्य पदों में ही है। कथाकाव्यों में गोपीकृष्ण का ही प्रेम-वियोग चित्रित है।

२—गोपीकृष्ण के प्रेम की कथा या इस प्रेम की धारणा (जैसे रूपमंजरी)। इस प्रसंग मे शृङ्गार-शास्त्र का पगपग पर सहारा लिया गया, और उसके सहारे प्रेम-विकास की मंजिलें भी निर्धारित की गईं हैं। सूर-जैसी तन्मयता इस काव्य मे नहीं है पगपग पर सतर्कता के दर्शन होंगे। परन्तु राधा कृष्ण के निकुंज-विहार, होली फागादि

प्रसंगों में वह तन्मयता की सर्वोत्कृष्ट दशा को पहुँचे हुए हैं। यहाँ काव्य गौण नहीं, बराबर भी नहीं, प्रधान हो गया है। कहीं-कहीं तो भक्ति-भावना के विकास में सहायक है, परन्तु अधिकांश स्थलों पर वह भक्ति-भावना से मन को हटा कर काव्य की सुन्दरता में उसे फँसा देता है। पहले प्रकार के काव्य में नन्ददास सूरदास से शिक्षा लेकर उनके साथ-साथ (या पीछे-पीछे ?) चल रहे हैं। परन्तु दूसरे प्रकार के साहित्य में उन्होंने एक मौलिक क्षेत्र भी खोज निकाला है। वे गोपी-प्रेम का चित्रण ही नहीं करना चाहते जैसे सूर में है, वे उसका विकास, उसका दर्शन मात्र, उसका वैज्ञानिक वर्गीकरण—सब करना चाहते हैं। यहाँ वे सम्प्रदाय के व्याख्याता बनने का भी प्रयत्न कर रहे हैं। सूरदास के काव्य में काव्यतत्त्व गौण है, मुख्य है भक्ति और धर्म। अतः वे भक्तिभाव द्वारा पहले हमें छूते हैं, फिर काव्य-छटा द्वारा। नन्ददास के काव्य के विषय में ठीक इससे उलटी बात कही जा सकती है। सूरदास के काव्य में वल्लभाचार्य के सिद्धान्त इतनी सुन्दरता से गुँथ गये हैं कि हम मुग्ध हो जाते हैं। नन्ददास के सम्बन्ध में हम यह बात नहीं कह सकते। उनका दर्शन-भाग काव्य और भक्ति के अंगों से अलग जा पड़ता है।

साधारण पाठक को नन्ददास से शिकायत है कि वे काव्य-कला और दर्शनविवेचना एवं गोपीप्रेम के सैद्धांतिक निरूपण को भक्तिभाव के ऊपर रख देते हैं। बात ठीक है। परन्तु हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि भक्ति तो साधना की चीज़ है, कविता में सधे हुए भक्तिभाव को प्रकट करना इस साधना का एक अंग हो सकता है, साधना नहीं। सूरदास की कितनी भक्ति उनके काव्य में उमड़ी है, कितनी बाहर रह कर उनके जीवन के साथ चली गई, इसकी विवेचना कौन त्रिकालदर्शी समालोचक करेगा। उनके काव्य में उनकी भक्ति का जो अंश रह गया है उसी को लेकर हम धन्य हैं। जिन सूरदास के लिए वल्लभाचार्य ने कहा था—"यह तो सागर है" उनका सारा व्यक्तित्व

सूरसागर में भी नहीं समा सका होगा। यही बात नन्ददास के सम्बन्ध में कही जा सकती है। जो ग्रन्थ हमें प्राप्त हैं, उनमें उनका कवि और विवेचक का रूप ही प्रधानता पा सका है। उसके बल पर उनकी भक्ति का मूल्यांकन नहीं कर सकते। हाँ, उसके द्वारा हमें उनके भक्ति-पूर्ण हृदय की झाँकी अवश्य मिलती है। हमें इतने से ही संतोष करना पड़ेगा। यह कहना भूल होगी कि काव्य में सतर्क रहने या गोपीप्रेम चित्रण में रसशास्त्र को आधार बनाने के कारण कवि भक्त की संज्ञा का कोई अधिकारी नहीं रह गया। हमें यह समझ लेना कि सारा भक्तिसाहित्य देवता के आगे की प्रसादी है जो आज देवालयों के बाहर आकर कौड़ियों के मोल बिक रही है। इस प्रसादी में सारा लोकज्ञान, सारा शास्त्रज्ञान, सारा हृदयबोध देवता के समर्पण किया गया था। जो चीज़ संसार में सबसे सुन्दर है, उसे ही तो प्रिय को अर्पण किया जाता है। जब कवि राधाकृष्ण या गोपीकृष्ण के गीत देवता को अर्पण कर रहा है तो वह उसके लिए अच्छी-से-अच्छी सामग्री का उपयोग क्यों न करे। इसीलिए कृष्ण-काव्य में रसशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का आग्रह है।

६

काव्य और कला

जनप्रसिद्ध है कि अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास का ही स्थान है। क्या कथा-विकास, क्या भाषा-सौष्ठव, क्या गीति-माधुर्य क्या कला-निपुणता, नन्ददास सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के सब कवियों पर भारी पड़ते हैं। हमने अन्यत्र यह बताया है कि 'अष्टछाप' में केवल उन्हीं के काव्य में शुद्धाद्वैत दर्शन और पुष्टिमार्ग के धार्मिक विचारों का सैद्धांतिक निरूपण हुआ है और इस दृष्टि से उनका काव्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत निबन्ध में हम कवि के काव्य और कला का विशद अध्ययन उपस्थित करेंगे।

नन्ददास के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध उक्ति है—और सब गढ़िया नन्ददास जड़िया। तात्पर्य यह है कि नन्ददास के काव्य में शब्द-समूह इस प्रकार चतुरता से जड़े गये हैं जिस प्रकार जौहरी हीरे को जड़ता है। इस प्रसिद्ध उक्ति में कवि की कला की सुन्दर स्वीकृति है। इस उक्ति के अतिरिक्त हमें अन्य दो प्राचीन उल्लेख नन्ददास के काव्य के सम्बन्ध में मिलते हैं। एक उल्लेख नाभादास का है, दूसरा ध्रुवदास का। भक्तमाल का उल्लेख इस प्रकार है—

श्री नन्ददास आनन्दनिधि रसिक प्रमुदित रगमगे ॥टेक॥
लीलापद रसरीति ग्रन्थ रचना में नागर
सरस उक्तिजुत युक्ति भक्तिरस गान उजागर

इसमें नन्ददास को 'रसिक' कहा गया है। हम देख चुके हैं कि नन्ददास 'रसिक' भी थे, वे चत्राणी के पीछे किस प्रकार दीवाने हो गए थे। किस प्रकार रूपमंजरी (रसिक मित्र) से उनका स्नेह अन्त तक दृढ़ रहा। वे भक्त भी थे—और अच्छे भक्त। उनके साहित्य का कोई भी पाठक उनकी भक्ति से प्रभावित हुए बिना नहीं बच सकता। जिन विशेषताओं का इस छप्पय में उल्लेख हुआ है, वे हैं—

(१) उनकी उक्तियों की सरसता (सरस उक्ति)
(२) उनका तर्कवाद (जुक्ति)
(३) उनके काव्य का भक्तितत्त्व ('भक्ति')
(४) रसतत्त्व की उत्कृष्टता ('रस')
(५) उनके काव्य का गीतिमाधुर्य ('गान उजागर')

ध्रुवदास ने कहा है—

नन्ददास जो कछु कह्यो रागरंग सों पगि
अच्छर सरस सनेहमय, सुनत स्रवन उठ जागि
रसिकदशा अद्भुत हुती, कर कवित्त सुढार
सत प्रेम की सुनत ही छुटत मोह जलधार
बावरो सो रस में फिरै, खोजत नेह की बात
आछे रस के बचन सुनि वेगि बिवस हो जात

इस छन्द में नन्ददास के काव्य की सुन्दर आलोचना है और उसके प्रभाव का मार्मिक वर्णन है।

इस छोटी-सी भूमिका के बाद हम नन्ददास के काव्य के विभिन्न अंगों पर भिन्न-भिन्न शीर्षकों के अंतर्गत विचार करते हैं—

१—सम्बद्ध कथा कहने की शक्ति (कथासौष्ठव)

पुष्टिमार्गीय कृष्ण-कवियों में केवल नन्ददास ही ऐसे हैं जिन्होंने फुटकर पदों के अतिरिक्त सम्बद्ध कथा लिखने का प्रयास किया है। सूरदास की रचनाओं में कथात्मक गीतिकाव्य के दर्शन होते हैं, परन्तु

पदों की एकांत मुक्तकता के कारण उनमें कथा का सौष्ठव पूर्णतः प्रगट नहीं हो सकता। सूरदास और अन्य पुष्टिमार्गीय कवियों ने लीला-काव्य लिखे हैं जो खंडकाव्य के अंतर्गत आ सकते हैं। परन्तु इनका भी प्रकाशन अधिकतर पदों या गेय छन्दों में होने के कारण वे कथाकाव्य की दृष्टि से इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जितने नन्ददास के काव्य।

नन्ददास के कथात्मक ग्रंथ हैं। १ रासपंचाध्यायी, २ रूपमंजरी, ३ दशमस्कंध भाषा, ४ रुक्मिनीमंगल, ५ श्यामसगाई। उन्हें कथा लिखने का इतना व्यसन है कि उन्होंने विरहमंजरी जैसे मुख्यतः सिद्धान्त-ग्रंथ को उदाहरण-स्वरूप कथा कह कर पूरा किया है और मानमंजरी नाममाला जैसे पर्यायवाची शब्दों के कोष में मानवती राधा के मानमोचन की कथा भी विकसित की है। वस्तुतः मध्ययुग में कथा कहने-सुनने का अच्छा प्रचलन था। पुराणों की कथा बाँची-सुनी जाती थी। नन्ददास उनसे अत्यन्त निकट से परिचित थे। वे स्वयं कथावक्ता थे और वल्लभ सम्प्रदाय में भागवत-जैसे पुराणों का सप्ताहपारायण तक होता था। सम्प्रदाय के गुरुओं ने भी कथाओं को अपने उपदेश का साधन बनाया था। "वार्ताएँ" इन्हीं कथाओं का लिपिबद्ध संग्रह है। अतः ऐसे युग में और कथावार्ता के ऐसे वातावरण में रह कर यदि नन्ददास को सम्बद्ध कृष्णलीला (कथा) लिखने की प्रेरणा हुई हो, तो आश्चर्य की बात क्या है?

नन्ददास की रचनाओं की विस्तृत आलोचना करते हुए हमने उनके कथा-काव्यों की वर्ण्यवस्तु को उपस्थित किया है और उसकी मौलिकता पर भी विस्तार-पूर्वक विचार किया है। इससे यह प्रगट होता है कि नन्ददास में सम्बद्ध कथा कहने की क्षमता थी। उनमें कथा के उपेक्षित सूत्रों को पकड़ने और विकसित करने की शक्ति थी, परन्तु उनका क्षेत्र परिमित था।

(१) वह पौराणिक कथाकार है—, अतः कला का स्थान गौण है।

(२) मूल कथाएँ पग-पग पर उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण करती हैं।

(३) उनकी दार्शनिक एवम् आध्यात्मिक तत्वों की विवेचना कला के मौलिक प्रभाव को बाधा पहुँचाती है।

(४) उनकी कला वस्तु को नवीन रूप में उपस्थित करने की अपेक्षा, उसकी सजावट में ही अधिक लगती दीखती है।

केवल रूपमंजरी ही नया ग्रन्थ है जिसमें तुलनात्मक दृष्टि से उनके हाथ परम्परागत कथा में बँधे नहीं हैं। यद्यपि यहाँ भी ध्येय निःसीम प्रेम की प्रतिष्ठा ही है जो वल्लभ सम्प्रदाय का प्रमुख स्थान है। इस कथा का ढाँचा सूफी कवियों की आख्यानक कविता से मिलता जुलता है।

'श्यामसगाई' और सूर के गारुड़ी कृष्ण के कथा–पदों के पढ़ने से पाठकों को पता लगेगा कि नन्ददास को ज़रा से कथासूत्र को पकड़ उसे कला का सुन्दर विकसित रूप देने का कितना कौशल आता था।

परन्तु सब ग्रन्थों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कथा के कहानीतत्त्व पर नन्ददास की दृष्टि अधिक नहीं थी, यदि वे कलात्मक कहानी को ही अपना ध्येय बनाते, तो कदाचित् वे तुलसी के समकक्ष ही पड़ते। परन्तु उन्होंने अपने ग्रन्थों में वर्णनों आदि काव्यात्मक प्रसंगों पर ही अधिक बल दिया। 'रुक्मिनी मङ्गल' और 'सुदामाचरित' की कथाओं को मूल कथाओं से मिलाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नन्ददास ने कितने ही कथासूत्रों को अविकसित छोड़ दिया है और रुक्मिनी और सुदामा की पत्नी के रूपवर्णन एवं द्वारिका के ऐश्वर्य और सौंदर्य के चित्र देने में ही काव्य का अधिकांश,

भाग समाप्त कर दिया। इससे यह अनुमान होता है कि उनमें कथाकार की अपेक्षा कलाकार का रूप प्रधान था। फिर भी फुटकर पदों के काव्यसंग्रहों के बीच में नन्ददास के कथाकाव्य कलात्मक साहित्य की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

२—चरित्र-चित्रण

नन्ददास के काव्य चरित्रकाव्य नहीं हैं, भावनाकाव्य या सैद्धांतिक काव्य हैं, अतः वहाँ पात्रों का अस्तित्व सिद्धान्तों को प्रकट करने के लिए या कवि की विशेष भावना को पूर्ण करने के लिए ही है। अतः चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उन्हें आँकने की भी बात नहीं उठती। फिर भी थोड़ा बहुत सा अध्ययन उनके पात्रों का अवश्य हो सकता है।

उद्धव

भ्रमरगीत के एक मुख्य पात्र उद्धव हैं। उनका चरित्र बहुत कुछ भागवत के उद्धव के चरित्र जैसा है। उन्हें भी ज्ञान का गर्व है जो अन्त में स्खलित हो जाता है। यहाँ भी वे तार्किक पंडित हैं। सूरदास के उद्धव इनसे कुछ भिन्न हैं। उन्हें ज्ञान का गर्व तो उतना ही या कुछ अधिक है, परन्तु तर्कशास्त्र में वे पारंगत नहीं हैं। गोपियाँ उन्हें बुरी तरह बना डालती हैं। नन्ददास के उद्धव कृष्ण पर क्रोध भी प्रकट करते हैं कि उन्होंने गोपी जैसी सच्ची प्रेमिकाओं की उपेक्षा की है। यह क्रोध सात्विक भाव ही है, तामसिक नहीं, अतः भक्तिभाव की दृष्टि से यह उपादेय है। सख्यभाव के भक्त नन्ददास या सूरदास ही इस प्रकार के क्रोध की कल्पना कर सकते थे।

गोपियाँ

'भँवरगीत' की गोपियों का एक सामूहिक चित्र ही हमारे सामने आता है। वे उसी प्रकार एक इकाई हैं जिस प्रकार सूरदास की गोपियाँ। सूरदास की गोपियाँ भावप्रवण हैं, नन्ददास की गोपियाँ भाव-

प्रवण तो हैं ही, वे भी बुरी तरह रोती-कलपती हैं, परन्तु साथ ही उनमें पांडित्य की मात्रा कम नहीं है, और तर्क में पंडित उद्धव पर भी विजय पा जाती हैं। वास्तव में यह तर्क की प्रधानता नन्ददास के अपने पांडित्य का प्रकाशन है। 'भँवरगीत' में नन्ददास ने गोपियों के विरह का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है, इससे उनका विरहिणी रूप ही हमारे सामने अधिक प्रमुखता से आया है। 'रासपंचाध्यायी' में हम उनके संयोगिनी रूप से भी परिचित हैं और उनके उल्लास—हास-विलास में भी साथ रहते हैं। परन्तु गोपियों के संयोगिनी-रूप की अपेक्षा उनका वियोगिनीरूप ही अधिक मार्मिक है।

'विरहमंजरी' में एक 'व्रजबाला' की कथा है। यह भी गोपी है। नन्ददास का अभीष्ट गोपीविरह का चित्रण है। अतएव इस गोपी की भी वैयक्तिकता प्रस्फुटित नहीं हो पाई है। यही हाल 'दशमस्कंध' की गोपियों का है।

वास्तव में गोपियाँ कृष्ण के प्रति प्रेम और विरह की एक 'प्रतीक' हैं, अतएव उनके चरित्र का विकास कहीं नहीं हो पाया है।

रूपमंजरी

'रूपमंजरी' एक सुन्दर, परन्तु दैव-प्रताड़ित, नायिका के रूप में चित्रित होती है। परन्तु इन्दुमती इस अभागी बालिका का परिचय कृष्ण के सौन्दर्यमय रूप से करा देती है, और वह कृष्ण से प्रेम करने लगती है। उसका प्रेम और विरह 'गोपियों' का ही प्रेम और विरह है। अतः यह चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'गोपी' ही है—सुन्दर, भाव-प्रवण संयोग में शतशः उल्लास, वियोग में शतशः 'परकीया' प्रोषित-पतिका।

इन्दुमती

इन्दुमती 'रूपमंजरी' की नायिका की सखी है। इसने नायिका के सौन्दर्य को सार्थक बनाने के लिए कृष्ण (उपपति) से उसका परिचय

कराया है और उसके प्रेम-विरह में अपने हृदय का प्रतिबिम्ब पाया है। सूफ़ीकाव्य में जो स्थान 'गुरु' का है, वह यहाँ इस इन्दुमती का है।

राधा

नन्ददास के काव्य में, पदावली को छोड़ कर राधा का चित्रण कहीं नहीं है—केवल स्यामसगाई में राधा आती है। यहाँ राधा का चित्रण उसी प्रकार है जिस प्रकार सूरदास के काव्य में। सूरदास में राधा छल कर स्वयं साँप काटने का बहाना करती है, तात्पर्य है कृष्ण से भेंट हो। नन्ददास की रचना में कृष्ण उसका मन हर लेते हैं, स्वयं वह छल नहीं करती—

> सब सखियन के झुंड मैं, देखन चली गोपाल
> अरसपरस दोऊ भये, कुँवरि किसोरी लाल
> मनहि फूले फिरै

> मन हरि लीनौं स्याम, परी राधे मुरझाई

कृष्ण के वचन से जगी राधा के शील का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है—

> सुनत वचन ततकाल लड़ैती नैंन उघारै
> निरखत ही घनस्याम, बदन तैं केस सँवारै
> सब अपने घर निरखि कै, पुनि निरखी ढिग आइ
> अंचर डारयौ बदन पै, पय पीले मुसकाइ
> सकुच मन में बढ़ी

पदावली में राधा मुग्धा, अभिसारिका, खंडिता अनेक रूपों में दिखलाई पड़ती है, परन्तु नन्ददास की राधा में न वह गौरवगरिमा है, न वह वर्णच्छटा जो सूरदास की राधा में।

रुक्मिनी

'रुक्मिनीमंगल' में रुक्मिनी का चित्रण हुआ है, परन्तु वह भी उसी तरह सुन्दरी विरहाकुल नायिका का जिस प्रकार अन्य गोपियों का। अन्य चरित्रों का विकास नहीं हो पाया—'मंगल' में उनका उल्लेख मात्र है, उनके कार्यकलापों आदि का उस प्रकार विशेष विस्तार नहीं जिस प्रकार भागवत में।

कृष्ण

'स्यामसगाई' में कृष्ण चतुर युवा चित्रित किये गये हैं, जो अपने प्रतिद्वंद्वियों को खूब छकाना जानते हैं, जिन्हें अपनी सम्मोहन शक्ति पर विश्वास है। 'रासपंचाध्यायी' में वह क्रीड़ारत मधुरमूर्त्त भगवान हैं। 'भँवरगीत' में उनके प्रेमी और सम्वेदनाशील रूप का चित्रण दो एक पक्तियों में हुआ है। 'रुक्मिनीमंगल' और 'सुदामाचरित' में कवि ने उनके शील को विकसित करने का विशेष प्रयत्न किया है। अन्य स्थलों पर, जैसे मानलीला में, वे दक्षिण नायक मात्र हैं।

सच तो यह है कि नन्ददास के काव्य में चरित्र-चित्रण को विशेष स्थान नहीं मिला है—हाँ, वे प्रेमविरह के कवि हैं, उनके नायक-नायिकाएँ प्रेम और विरह के मूर्त्त रूप मात्र हैं, उनका वैयक्तिक चरित्र हमारे सामने नहीं आता।

३—वर्णन

वर्णन कथात्मक काव्यों के सबसे महत्वपूर्ण अंश होते हैं। नन्ददास के काव्य में अनेक वर्णन आते हैं। वे वर्णन लिखने में बहुत पटु हैं—थोड़े में ही बहुत लिख देते हैं। इन वर्णनों के लिखने में उन्हें थोड़ी बहुत सहायता उन ग्रन्थों से चाहे भले ही मिली हो, जिन ग्रन्थों के आधार पर वे अपनी रचना कर रहे थे, परन्तु उनके अधिकांश वर्णन मौलिक हैं।

नन्ददास ने नगर का वर्णन कई बार किया है। एक पुर का वर्णन रूपमंजरी में आता है जहाँ धर्मवीर राजा राज करता था—

नये धौरहर सुखद, सुवास, जनु धर पै दूसर कैलास
ऊँची अटा घटा बतराहीं, तिन पर केकी केलि कराहीं
नाचत सुभग सिखंड डुलत यौं, गिरधर पिय की मुकुट लटक ज्यौं

गुड़ी उड़ी छवि देत अति, अस कछु बनि रह्यौ थान
देखन आवत देवजन, चढ़ि चढ़ि विमल विमान

आसपास अमराइ बरारी, जहँ लगि फूलतती फुलवारी
चुनहिं फूल मालन छवि भरी, अवनी उतरि भरी जनु परी
बोलहिं सुक, सारिक, पिक, तोती, हरियर, चातक, पोत, कपोती
मीठी धुनि सुनि अस मन आवै, मैन मनौं चटसार पढ़ावै
फलम के भार नमित द्रुमन ऐसैं, सपति पाइ बड़े जन जैसैं
का कहियै कासार निकाईं, सारस हंस वंस छवि पाईं
निरमल जल जनु मुनिमन आही, परसत खन जनपातक जाही
फूल फूलि रहे जलज सुदेसे, इंदीवर, राजीव, कुसेसे
पानी पर पराग परी ऐसे, बीर फुटक भरी आरसि जैसी
पदमन कौं जब पौन डुलावै, तब लंपट अलि बैठि न पावै
जनु ततकारति मानिनि तिया, आन जुवति रत जान्यौ पिया

कंज-कंज प्रति पुंज अलि, गुंजत इमि परभात
जनु रविकर तम तजि भज्यौ, रोवत ताके तात

इस वर्णन में कवि ने उपमा-उत्प्रेक्षा की अच्छी छटा दिखलाई है और वर्ण्य वस्तु को सजाने में अन्य कवियों की रचना से भी सहायता ली है जैसे—

फल भारन नमि विटप सब रहे भूमि निअराइ
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ
(तुलसी—मानस)

फलन के भार नमित द्रुमन ऐसैं, संपति पाइ बड़े जन जैसे
(नन्ददास)

परन्तु वर्णनशैली में अलंकारों का प्रचुर प्रयोग उसके सौन्दर्य को बढ़ा देता है। नगर के दूसरे वर्णन 'सुदामाचरित', 'रुक्मिनीमंगल' और दशमस्कंध में मिलेंगे। पहले दो ग्रंथों से द्वारिका का वर्णन है। परन्तु कवि एक ही सामग्री को अनेक प्रकार से उपस्थित कर रहा है—

उठी नभ गुड़ी बनी छवि ७५
तैसेई देव विमाननि चढ़ि, द्वारावति आये ७७
(मंगल)

गुड़ी उड़ी छवि देत अति, अस कछु मन रह्यो बान
देखन आवत देवजन, चढ़ि-चढ़ि विमल विमान
(रूपमंजरी)

कुंज-कुंज प्रति, पुज, भँवर, गुंजत अनुहारे
मनौ रविडर तम भजै, तजै, रोवत हौं बारो
(मंगल)

कजकज प्रति पुंज अलि गुंजन इमि परभात
जनु रविडर तम तजि भज्यौ, रोवत ताकें तात
(रूपमंजरी)

नन्ददास के अन्य वर्णनों की भाँति यहाँ भी वे भाषाशैली के द्वारा विशेषता पैदा करने से नहीं चूकते। उनके दो अस्त्र हैं—वर्णों का माधुर्य और अनुप्रास—जैसे

उज्ज्वल मनिनय घटा, अटा सौं बातैं करई
जगमग जगमग जोति होति, रविससि सों अरई
चपल पताका फरकैं, अरकैं अरक किरन जहँ
घाम न कबहूँ, चरसैं, नित ही छाँह रहत तहँ

जालरंध्र मग अगर धूम, जनो जलधर धुरवा
आनन्द भरिभरि उरवा, नाचत मधुरे मुरवा
बगर बगर सब नगर, उड़ी नभ गुड़ी बनी छवि
मनौं गगन मैं अगन, चौखुटे चंद रहे फवि

रेखांकित शब्दों में अनुप्रास की छटा है। वर्णों की मैत्री तो देखने योग्य है। शब्द कहीं-कहीं इतने मीठे होकर आते हैं कि मुँह में घुले रह जाते हैं। इस प्रकार की मिठास से कवि इतना मोहित है कि वह शब्दों के रूप को बिगाड़ कर भी संतुष्ट नहीं होता धुरवा (धौरहर), उरवा (उर=हृदय), मुरवा (मोर=मयूर)। 'जालरंध-मग अगर धूम, जनो जलधर धुरवा, जैसी पंक्तियों में घकार की आश्चर्यजनक मौलिक योजना हुई है। सच तो यह है कि वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में नन्ददास नई बात कुछ नहीं कहते। उनके वर्णन उत्कृष्ट हैं—इसका कारण है :

(१) उनकी भाषाशैली।

(२) उनका नवीन, मौलिक और सुन्दर उपमा-उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग।

परन्तु यही बातें उन्हे महान वर्णनकार बनाने के लिए काफ़ी है। वैसे वर्णन में परम्परागत बातों के सिवा और क्या है?

बनबाग़-वर्णन भी कुछ स्थलों पर मिलते हैं। रासपंचाध्यायी में वृन्दावन का सुन्दर वर्णन है, परन्तु इसमें कल्पना का ही प्रयोग अधिक है। कवि एक विशेष धार्मिक भावना से बन की ओर खिंचता है—

देवन मैं श्रीरमारमन नाराइन प्रभु जस
बनन में वृन्दावन सुदेश, सब दिन सोभित अस
भावन की बरबानक, पावन ही बनि आवै
सेस, महेस, गनेस, सुरेसहु पार न पावै

इसी से उसका वर्णन साधारण अनुभव के स्तर से उठकर काल्पनिक, पौराणिक अनुभूतिमय हो गया है। "ब्रह्मवैवर्त पुराण" में भले ही 'बनस्थली' और 'रासस्थली' के ऐसे ऐश्वर्यपूर्ण वर्णन मिलें जैसे—

> ता-तर कोमल कनकभूमि, मनिमय मोहति मन
> देखियत सब प्रतिबिंब, मनौं घर मैं दुसरौ वन
> थलज जलज झलमलत, ललित बहु भँवर उड़ावै
> उड़ि उड़ि परत पराग, कछू छवि कहत न आवै
> श्रीजमुना अति प्रेम भरी, तट बल तजु गहरी
> मनि मंडित महि माँहि, दौरिजनु परसत लहरी

परन्तु "भागवत" में वृन्दावन 'बन' है और कृष्णभक्त कवियों ने उसका अत्यन्त यथार्थ चित्रण किया है। नन्ददास ने उसे 'कनकभूमि' 'मणि-मंडित महि' बना दिया है। इस प्रकार धार्मिक भावना और कल्पना उनकी काव्य-प्रतिभा को स्वतंत्र दौड़ नहीं दौड़ने देतीं। इसी प्रकार 'रूपमंजरी' में वह एक अलौकिक बन का वर्णन कर रहा है जो नायिका ने स्वप्न में देखा है—

> एक ठाँउ इक बन है तानो, वाकी छवि हौं कहा बखानौं
> आनहिं रंग पुहुप मैं देखे, अपनी वारी नहि तस पेखे
> औरहिं भाँति भंवर रवराजैं, ठौर ठौर कछु जंत्र से बाजैं
> सावन देखि भूख भजि जाई, यह उपाखान साँच है माई
> रटहि विहंगम इमि मन हरैं, जनु द्रुम आप मैं बातैं करैं
> गहवर कुंज कुंज अति सौहैं, मनिमय मंडप छवितहँ कौहैं
> पुहुप बितान ब्रन अस बाने, चद चखौंड़े के जनु ताने

इस वर्णन को जायसी के इस वर्णन के सामने रखिये—

> घन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुँत लगि अकासा
> तरिवर सबै मलय गिरि लाई। भइ जग छाँह, रैनि होइ आई
> मलय समीर सोहावनि छाँहा। जेठ जाड़ लागै तेहि माँहा

ओही छाँह रैनि होइ आवै। हरियर सबै अकास दैखावै
पथिक जो पहुँचै महि कै धामू। दुख बिसरै, सुख होइ बिसरामू

जान पड़ेगा, मूल प्रेरणा एक ही है। इस प्रकार की रचना को हम "प्रकृत स्वच्छदतावाद" ("Romantic Treatment of Nature") की श्रेणी में रखेंगे।

षड्ऋतु और बारहमासे के रूप में हमें कुछ प्रकृतिवर्णन भी मिलता है। इस प्रकार के ऋतु वर्णन का स्वतः सौन्दर्य भी है, और वह उद्दीपन की दृष्टि से भी लिखा जाता है। नन्ददास के ये वर्णन मुख्यतः उद्दीपन भी दृष्टि से है और उनमें प्रकृति और उसके व्यापारों का केवल नामोल्लेख मात्र हो जाता है। "बारहमासा" विरहमंजरी में मिलता है। वास्तव में कथा के विकास लिए उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। जान तो पड़ता है कि कवि का उद्देश ही 'बारहमासा' लिखना है परन्तु उसने कथा सामग्री के आधार पर ही उसको गढ़ा है। ऐसा करने से इस मासवर्णन में वैयक्तिकता आ जाती है, सरसता तो उसमें है ही, नन्ददास के किसी काव्य में वह अनुपस्थित नहीं है जैसे कुआर का महीना है, वियोगिनी कहती है—

कहियौ उड़ग उदार, सुन्दर नन्दकुमार सौं
अति कृश कीनी क्वार, हार भार हैं डारि दिय

खंजन प्रगट किये दुख दैन, संजोगिनि तिय के से नैना
निलरम जल अंबुज जहँ फूलै, तिन रसलंपट अलि-कुल भूले
सुधि आवत वा मोहनमुख की, कुटिल अलक जुग सीमा सुखकी
मोरन नूतन चदवा धारौ, पख पुरातन हाते करौ
आवहु ललिते सिर पर धरौ, तिनहिं देखि दृग होत दुखारे
साझ समै बातैं बनि आवौं, गोरज मण्डित बदन दिखावौ
वा छवि बिन ये नैन दुखारे; जरत है महा बिरहज्वर जारे

और ठौर की आगि पिय, पानी पाइ बुझाइ
पानी मैं की आगि बलि, काहे लगी सिराइ

यहाँ कवि के भौरों के नये पंख उगने और नायक से नये पंखों को मुकुट में स्थान देने की बात कह कर सजीवता ला दी है और प्रसंग को निर्वैयक्तिक 'बारहमासा' का अंश होने से बचा लिया है। इस 'बारहमासे' में सब से सुन्दर चित्रण 'सावन' का हुआ है—

अब देखियत उमगी घन-माला, मानहुँ मत्त मदन की ढाला
छुटे जु बन्धन तोरी मरोरि, धनुष बने मनु पंचरंग डोरी
बगन की पंक्ति बड़े-बड़े देत, धुरवा मद के पटे बसंत
गरजनि गुंजनि सुनि-सुनि यहा, दरकतहिय, दुख का है सै कहा
भरि-भरि सुंड भडारनि पानी, मारत मोहिं, करत तकवानी
घूमत फिरत महा मतवारे, ढाहत पिय के अवधि करारे

यहाँ कवि ने 'बादलों' से हाथी का रूपक खड़ा किया है। यह मतवाले हाथी अन्त की पंक्ति में जब—

ढाहत पिय के अवधि करारे

कहे जाते हैं, तब प्रकृतिचित्रण के साथ-साथ विरहिणी की मनःव्यथा का भी आप ही चित्रण हो जाता है। ऐसे स्थल कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और समसामयिक काव्य में विरल हैं।

'रूपमंजरी' में षटऋतु-वर्णन आता है जो बारहमासा की भाँति ही वियोगकाव्य है, संयोगकाव्य नहीं। परन्तु उसमें कवि ने विशेष वर्णन केवल 'वर्षा' का ही किया है, शेष ऋतुओं का केवल विरहिणी पर प्रभाव-मात्र दिखा कर ही उसे संतोष हो गया है। वास्तव में यहाँ वर्णन के साथ साथ ही कवि नायिका की 'उन्माद' दशा का भी चित्रण कर रहा है—

उमगे बादर कारे कारे, बढ़रे बहुरि भयानक भारे
घुमड़नि, मिलनि देखि डर आवै मनमथ मानों हथी लरावै

सूफ़ी कवियों के काव्य में भी मिलता है। अन्यत्र इसमें इसके उदाहरण दिये हैं।

रूप-वर्णन के तो कितने ही चित्र हमें मिलते हैं। नन्ददास का अधिकांश काव्य नायक-नायिकाओं की प्रेम-विरह की कथा लेकर चलता है। इसलिए उभय पक्ष का शारीरिक सौंदर्य अवश्य सामने लाना होता है। नन्ददास ने रूप-चित्रण को उस परम्परा पर ही खड़ा ही किया है जो "नखशिख" के नाम से प्रसिद्ध है। 'रूपमंजरी' में नायिका के सौन्दर्य का बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है—

सीस पहुप गूंथनि छवि ताही, मनौं मदनारग कानन आही
वेनी बनी कि सापिनि आहीं, बुरी दीठि देखै तिहिं खाही
सोहत बैंदि जराइ की ऐसी, भल मगिमनि प्रगटी जैसी
भ्रुव-धनु देखि मदन पीछुतयौ, हर के समर समै किन भायौ
अब याके बल करौं लराई, हरौ छिनक में हर हरताही
बालपनै पग चंचलताई, अब चलि छबिले नैनकि आहि

× × ×

नासिक नथ जनु मनमथ पासी, हाँसी हरि देव की मायासी
मृदु कपोल छवि बरनि न जाही, झलकै अलक खुमी जिन माही
अधर मधुर मधि रेख सुढ़ारी, अरुन पाट जनु पुई पवांरी
लसत जु हंसत दसन की जोती, कौ है दाड़िम कौ है मोती
चिबुक कूप छवि उझकै जोई, जगत कूप पुनि परै न सोई
कंठ लीक छवि पीक की धारा, फीक परी सब छवि संसारा

× × ×

सुन्दर कर राजत रंग भीने, एक कमल के जनु विवि कीने
मंडल है जु उठे कुच दोऊ, आवै न उपमा आँखितर कोउ
श्रीफल, कुंभ, संभु सम माने, सरस कपिन तेउ नाहिं परमाने
तब कही सुख की रासि विविकरी, खनी उर अवनी परधरी

रोमराजि अस देहि दिखाई, जनु उत तैं बैनी की साई
किधौ नीलमणि किंकिनि माहीं, रोमावलि तिहि जोति की छांहीं
किंधौ लटी कटि दिखि करतारा, रोम धार जनु धरयौ अधारा,
राजत कटि किंकिनी रसाला, मदन-सदन-जनु-बदनमाला;
पाइन मनिमय नूपुर धुनी, कंज पिंजर मनौ मनमना मुनी,

चरन धरत जहँ तहँ तरुनि, अरुन होत सो लीह
जनु धरती धरती फिरै, तहँ तहँ अपनी जीह

कृष्ण (नायक) के रूप का चित्रण भी कुछ इसी प्रकार हुआ है जैसे—

सुन्दर पिय कौ बदनि निरखि, अस को नहिं भूल्यौ
रूप सरोवर माझ, सरस अम्बुज जनु फूल्यौ
कुटिल अलक मुख-कमल, मनौं मधुकर मतवारे
तिनि-मधि मिलि रहे लाल, नैन चचल जु हमारे
चितवनि मोहन मंत्र, भौंह जनु मनमथ-फाँसी
निपट ठगौरी आहि, मंद-मृदु, मादक हाँसी

(रासपंचाध्यायी)

स्याम बरन तन अस रस भीनौ, मरकत रस निचोइ जस कीनौ
मोर चद सिर अस कछु लीनौं, मानौं अली टटावक टीनौं
सोहत अस कछु बाँकी भौंही, मो मन जानै, कै पुनि हौंही
चुनि-चुनि सरद कमल दल लीजौ, तिनकौ मोती पानिप दीजौ
ता मोहन के नैंनन आगे, अलि तेऊ अति फीके लागे
नासिक मोती जगमग जोती, कहत जु मो मति होती ओती
पीत वसन दुति परत न कही, दामिनी सी कछु थिर ह्वै रही

(रूपमंजरी)

वल्लभ सम्प्रदाय में रूपासक्ति का बड़ा महत्त्व है। 'नित्य कीर्तन' के लिए जो पद बने हैं, उनमें भगवान की भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-

भिन्न अवस्थाओं की झाँकी मिलती है। एक ही छवि पर सैकड़ों पद है। जागरण (मंगला), ग्वाल (बनचारण), राजभोग, शयन, आरती—प्रत्येक अवसर पर कन्हैया की शोभा का वर्णन लक्ष्य होता है। इसीलिए नन्ददास के पदावली-काव्य में कृष्ण के बीसियों सुन्दर चित्र मिलेंगे जैसे—

गाइ खिलावत सोभा भारी

गोरज रंजित बदन कमल पर, अलक झलक घुँघराली
नखसिख-अंग सुभग बहु भूषन, पहिरत सदा दिवारी
खेलि रही है खरिक सभा पर, नग रगन उजियारी
श्रमकन राजै भाल गडभुज, या छवि पर बलिहारी

इसी तरह राधे के भी अनेक चित्र हैं जैसे—

ठाढ़ी है मंजन किये आँगन अपनें
देखि न सुनि न एसी संपति सपनें
बड़े-बड़े बार पाछें छूटे अति छाजें
मानहुँ मकरध्वज चमर विराजें
बदन सलिल कण जगमग जोती
मानो इन्दुसुधा तामें अमीमय मोती
आधो मोतीहार चारु उर रह्यो लसी
कनक लता तें मानों उदय होत ससी
पुन सुरसरी सम मोतिन के हारा
रोमावलि मिली मानों यमुना की धारा
परिक झलकन पोंई सरस्वती ऐनी
परम पावन देखी मदन त्रिवेनी
अंचल उड़न छवि कहिये कवन
रूप दीपसिखा मानों परसी पवन

अधिकांश रूप-वर्णन अलकारों के सहारे हुआ है। यही अलंकारों द्वारा उत्पन्न मूर्त्तिमत्ता उसका बल है। कृष्णकाव्य के आदि गुरु विद्यापति और जयदेव के काव्य में ही ऐसे रूप का प्रचुर वर्णन है। बाद को तो इनकी परम्परा ही बन गई। नन्ददास ने इसी परम्परा को आगे बढ़ाया। उनकी सम्प्रदाय-निष्ठा ने इस रूपासक्ति और रूप-वर्णन की शृङ्गारिक प्रवृति को आगे बढ़ाया।

कृष्ण-कवियों के वर्णनचातुर्य की परीक्षा की भूमि रासलीला है। यहीं पर देखा जाता है कि कौन कवि कितना महान् है। यद्यपि रासलीला की आधार वस्तु से बहुत कुछ सहारा लिया जा सकता है, परन्तु कवि उस समय तक सजीव चित्र उपस्थित नहीं कर सकता जब तक उसमें वर्णन करने की महान क्षमता न हो। 'रासलीला' का वर्णन 'हल्लीस क्रीड़ा' नाम से विष्णु पुराण में है। भागवत में रास का विशेष वर्णन है और उसका आधार लेकर जयदेव के गीतिगोविन्दम् में रूप-गीति की एक अद्भुत सामग्री उपस्थित करने की चेष्टा की गई है। सूरदास और नन्ददास दोनों ने इन पूर्ववर्ती कवियों की सामग्री से सहायता ली है, परन्तु कदाचित् सूरदास भी अपने रासलीला पदों में नन्ददास की रास पचाध्यायी के पाँचवे अध्याय की सामग्री से होड़ नहीं ले सके हैं। इसमें कवि ने अपने अध्ययन, अपने भाषा-ज्ञान और अपनी काव्य-प्रतिभा का पूरा-पूरा प्रयोग किया है और वह परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उतरा है।

४—रस

नन्ददास मूलतः भक्त हैं, परन्तु उन्हें पग-पग कर कविता का भी आग्रह है। इसीलिए उन्होंने भक्तिभाव की रसदृष्टि से व्याख्या भी की है। कृष्णभक्त कवियों में से वही एक ऐसे हैं जिन्होंने गोपी-कृष्ण विरह के रसतत्त्व से आध्यात्म ज्ञान की उपलब्धि सम्भव बताई है और गोपी-विरह का एक शास्त्र ही खड़ा कर दिया है। भँवरगीत, रसमंजरी

और विरहमंजरी एवं रूपमंजरी काव्यों में यह शास्त्र अविकसित रूप में हमें उपलब्ध है, परन्तु उसमें जो कमी है उसे कवि एवं 'अष्टछाप' की अन्य रचनाओं के अध्ययन से पूरा किया जा सकता है। जैसा हम आगे सिद्ध कर देंगे, नन्ददास के अधिकांश काव्यों का विषय प्रेम है— इसी को मधुरभाव की भक्ति भी कह सकते हैं। जो रसशास्त्र में शृंगार है, वही भक्तिशास्त्र में मधुरभाव है। इस प्रकार स्थापित होने के बाद रसिक कवि रसमर्मज्ञ नन्ददास के लिए रसव्याख्या में कोई अड़चन नहीं पड़ सकती थी। नन्ददास ने अनेक पदों में प्रेम के लोकोत्तर और दैवीरूप की ही विवेचना की है—

प्रेम प्रेम सो होय प्रेम सों पारहि जैये
प्रम बँध्यो संसार प्रेम परमारथ पैये
एकै निश्चय प्रेम को जीवनमुक्त रसाल
साँचों निश्चय प्रेम को जिहि तें मिलैं गोपाल

(भँवरगीत)

वे स्पष्ट ही प्रेम को विषयवासना (काय-भाव) से अलग कर देते हैं जब वे कहते हैं—

ऊँच कर्म ते स्वर्ग है, नीच कर्म ते भोग
प्रेम बिना सब पचि मरै, विषय वासना रोग

(ऊँचे कर्म से स्वर्ग मिलता है, नीच कर्म से भोग, परन्तु प्रेम के बिना सब लोग विषयवासना के रोग में पच-पच के मरते हैं) परन्तु भागवत को लौकिक प्रेमरस से अभिन्न बता कर भक्तिकाव्य को लेकर रसिकों और भावुकों से पहली बार नन्ददास ही संबोधित नहीं हुए थे, श्री व्यास भगवान ने भागवत में ही इस प्रकार की योजना कर दी थी—

निगम कल्पतरोर्गलित ध्रुवं
शुकमुखादमृतद्रव संयुतम्
पिवत भागवतं रस मालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकः

श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भी कृष्ण को 'परमरस' 'रसो वै सः' कहा। उनके प्रिय शिष्य सूरदास ने भगवान की लीलाओं में शृङ्गार भाव की स्थापना इतनी तन्मयता से की, कि यही भक्तिरस हो गया। नन्ददास ने इसकी सैद्धान्तिक व्याख्या उपस्थित की और अपनी रचनाओं में रसतत्त्व का उसी प्रकार विस्तृत एवं निगूढ़ प्रयोग किया। "ससार में जो कुछ रस है, जो कुछ सौन्दर्य है, वह सब प्रभु का ही है" :

रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जगमैं आहि
सो सब गिरिवर देव कौ निधरक बरनौं ताहि
(रसमंजरी, १०)

ऐसा कह कर नन्ददास नायिका-भेद भी कह जाते हैं। यही नहीं, वे अपने काव्य में लीला, भाव, रति आदि शृङ्गारशास्त्र के मान्य विषयों का विस्तृत प्रयोग करते हैं (दे० रूपमंजरी)।

नन्ददास ने विशेष रूप से गोपी-प्रेम के संयोग और वियोग पक्ष का ही चित्रण किया है। अन्य रसों और भावों का उनके काव्य में प्रायः अभाव है। 'वात्सल्य रति', 'शोक', 'क्रोध', 'भय', 'आश्चर्य' आदि भावों का थोड़ा बहुत वर्णन कवि ने किया है किन्तु सच तो यह है कि ये वर्णन प्राय' किसी परिस्थिति के अनुरोध से हैं। उनमें कवि की अंतरात्मा की पुकार की वह गूंज नहीं सुनाई पड़ती जिसे हम गोपी-कृष्ण के प्रेम के वर्णनों में सहज ही सुन पाते हैं। 'दशमस्कंध की अघासुर, बकासुर, कालीनाग, गोवर्द्धनधारण आदि विभिन्न लीलाओं में 'भय', 'क्रोध', 'आश्चर्य' आदि के जिन भावों का प्रदर्शन किया गया है उसका बहुत कुछ श्रेय श्रीमद्भागवत को है। इन क्षेत्रों

में कवि की स्वतन्त्र उद्भावनाओं की जो अपेक्षाकृत कमी दिखलाई पड़ती है उसी से यह जान पड़ता है कि कृष्ण-कथा के साथ जुड़ी होने के अनुरोध से ही कवि इन लीलाओं के वर्णन की ओर अग्रसर होता है।"

('नन्ददास', पृ० ११०)

वास्तव में यह सच है, यदि "दशमस्कंध" उपलब्ध न होता तो हम नन्ददास के अन्य रसों के प्रयोग से एकदम वंचित रहते।

संयोग शृङ्गार की अपेक्षा विप्रलंभ का ही अधिक वर्णन एव विस्तार हमें नन्ददास के काव्य में मिलता है। सयोग शृङ्गार की कुछ छाया रूपमंजरी और भँवरगीत में मिलती है. परन्तु वहाँ यह संयोग भावनात्मक एवं मानसिक संयोग है—

देखे मोहन गिरिधर पिया, साँवरे जगत-सदन के दिया
पियहि निरखि तिय लज्जित भई, सखि पाछे आछे दुरि गई
हँसत हँसत पिय तिहि ढिंग आये, काम तैं कोटिक ठाम सुहाये
सखि सौं वह लपटनि अलबेली, अरुझी हेम प्रेम जनु बेली
ताही के रस ताहि मनावै, मोहनलाल महा छवि भावै
बनिता लता सहज सुखदाई, ऐसे सरस निरस ह्वै जाई

नेह नवोढ़ा नारि कौं, बार बार कन्याइ
थलहाये पै पाइयै, निरपीड़े निरसाइ

बोलि-बोलि मादक मधु बानी, कुँवरि निहोरि कुंज मैं आनी
का कहियै तिहि कुंज निकाई, जनु सुख पुजन ही करि छाई
तामैं सेज सु पेसल ऐसी, आल बाल रति बेली जैसी
कछु छल, कछु बल, कछु मनुहारी, लै बैठे तहँ कुंजबिहारी
मन चहै रम्यौ, रु तनु चहै भग्यौ, कामिनि कौं यह कौतुक लग्यौ
जो पारद कौं कर थिर करै, सो नवोढ़ बाला उर धरै

पुहुपन ही के दीपक जहाँ, जगमति जोति लागि रही तहाँ
प्रथम समागम लज्जित तिया, अंचल पवन खिरावत दिया
दीप न बुझै विहँसि उर बाला, लपटि गई पिय उरसि रसाला
भोजन भूख मिलत ही लहै, औ परि इन सरि परत न कहै
प्रेम पुलक अकुर तिहि काला, सो अन्तर सहि सकत न बाला
चित विवधान सहति नहि सोई, रूपमंजरी अस रस मोई
चुम्बन समय जु नासिका बेसरि मुती डुलाइ
अधर छुड़ावन की मनौं, पिय की हाहा खाइ
(रूपमंजरी ५३४—५५५)

हमने इस विस्तृत अवतरण को इसलिए उद्धृत किया है जिससे यह आँका जा सके कि संयोग काव्य पर रसशास्त्र का क्या प्रभाव है ! यह मिलन भौतिक जगत में नहीं होता है, स्वप्न में होता, यहाँ स्पष्ट ही अध्यात्मिकता की छाप है। परन्तु मिलन-प्रसग में 'रीति' का आग्रह विशेष है। कवि ने रूपमती को नवोढ़ा नायिका चित्रित किया है (दे० मुग्ध नवोढ़ा—रस० ४०)। प्रथम समागम के सम्बन्ध में नायिका की लाज और लाजमोचन का चित्रण भी रीतिशास्त्र के अनुकूल है। यदि कृष्ण अलौकिक नायक न होते, और मिलन स्वप्न में होने पर उस पर अध्यात्म की छाप नही होती, तो हम स्पष्टतयः इस काव्य को शृङ्गारकाव्य कहते। 'रूपमंजरी' में उन्होंने नायिका के विकास को भी रीतिशास्त्र की मान्यताओं के अनुसार ही चित्रित किया है—

रूपमजरी की वयःसधि (रूप० ८०—८६),

अज्ञात यौवना (१००—११०, तुलना कीजिये रस० अज्ञात यौवना का लक्षण)

रूपमंजरी १५० में कवि ने अंगज अलंकारों के नाम दिये हैं १—दुति, २—लावन्य, ३—रूपमधुराई, ४—कान्ति, ५—खनता, ६—सुन्दरता,

७—मृदुता, ८—सुकुमारता। और इसके बाद इनकी परिभाषा लिखी है। जान पड़ता है कि कवि रसशास्त्र लिख रहा है। कथा विकास से इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार रीति-शास्त्र का अनुरोध पग-पग पर लक्षित है। इसी कथा में रूपमंजरी के भाव-विकास को प्रगट करने के लिए भाव, हाव, हेला और रति का विशद चित्रण है (तुलना के लिए रस० के यही प्रसंग)। सभी स्थलों पर नन्ददास ने रसमंजरी के उदाहरणों का उपयोग किया है। जैसा का तैसा ही रख दिया है। इससे यह समझ पड़ता है कि दोनों रचनाएँ लगभग एक ही समय की हैं, और कवि लौकिक प्रेम की भित्ति पर ही पारलौकिक रति चित्रित कर रहा है। रासपंचाध्यायी में सयोग शृङ्गार के दो प्रसंग कथा के अनुरोध से आते हैं—पहला प्रथम अध्याय में, दूसरा चतुर्थ अध्याय के आरम्भ से लेकर पचम अध्याय के अन्त तक। इस संयोग-चित्रण में कवि तन्मयता की अन्तिम अवस्था को पहुँच गया है। और यही तन्मयता इस संयोग का आध्यात्मिक पक्ष पुष्ट करती है। इस समय आराधक (गोपियों) और आराध्य (कृष्ण) का कोई भी दुराव नहीं रह गया है, वे परमानन्द की परिस्थिति को प्राप्त हैं, इसीसे कवि सारे संयम और नियन्त्रण को भूल कर पुकार उठता है—

> दौरि लपटि गईं ललित लाल, मुख कहत न आवै
> मीन उछलि सर-पुलिन परे पुनि पावै पावै
> कोउ चटपटी सी कर लपटी, कोउ उर बर लपटी
> कोउ गर लपटी कहति भले जू कान्हर कपटी
>
> (रास० पंक्ति ४००—४०४)

और भी आगे बढ़कर कवि कहता है—

> ग्रीव ग्रीव भुज मेलि, केलि कमनीय बढी अति
> लटकि लटकि वह निरत्तनि, कापै कहि आवै गति

छवि सौं निर्तनि, पटकनि, लटकनि, मंडल डोलनि
कोटि अमृत सम मुसकनि, मंजुलता थेईथेई बोलनि

× × ×

भुजदंडन सौं मिलत, ललित मंडल निर्तत छवि
कुंडल कच सौं अरुझत, उरझत तहाँ बड़े कवि

वह इसके आगे भी जाता है—

हारहार में उरझि, उरझि बहियाँ में बहियाँ
नील पीलपट उरझि, उरझि 'बेसर नथ महियाँ
श्रम भरे सुन्दर अंग सरस, अति मिलन ललित गति
अंसनि पर भुज दियैं लियैं सोभा सोभित अति
टूटी मुक्तामाल, छूटि रही साँवरे उर पर
मानौं गिरितैं सुरसरि, ह्वै बिधि धार धँसी धर

५३०

अन्त में भी इस रास (संयोग) को नन्ददास ने "अद्भुत रस" कहकर उस पर आध्यात्मिकता का आरोप कर दिया है जिसको देखकर—

सिला सलिल ह्वै चली, सलिल ह्वै गयौ सिला पुनि
पवन थको, ससि थक्यौ, थक्यौ उड़ मंडल सिगरौ

(पंक्ति ५३२, ५३३)

यह तो हुआ संयोग-पक्ष। विप्रलंभ में नन्ददास और भी प्रभावशाली हैं। रूपमंजरी, विरहमंजरी, भँवरगीत, रुक्मिनीमंगल, रासपचाध्यायी और फुटकर पदों में शृंगार के इस पक्ष का अत्यन्त मार्मिक चित्रण और विश्लेषण है। जो कवि 'पलकांतर' विरह जैसी सूक्ष्म और गम्भीर प्रेमविरह-भाव की कल्पना कर सकता है, उसका विरह-चित्रण कितना गहरा होगा, यह साफ़ है। इस विरहभाव के अनेक उत्कृष्ट चित्र हमें मिलते हैं—

सुनि मोहन-सन्देस, रूप सुमिरन ह्वै आयौ
पुलकित आनन अलक, अग आवेस जनायौ
बिह्वल ह्वै धरनी परी, ब्रज बनिता मुरझाय
दै जल छींट प्रबोधहीं, ऊधौ बात बनाय

—सुनो ब्रजवासिनी (पं० २६—३० भँवरगीत)

निकसि प्रान तियतन तैं, द्विज के वचननि आये
जब कह्यौ 'श्री हरि आये', मनौं बहुरथी फिरि आये

(रुक्मिनिमंगल, १६१-१६२)

'रूपमंजरी' के षट्ऋतु वर्णन और सारी विरहमंजरी में गोपीविरह का ही चित्रण है। यद्यपि विरह-वर्णन में शास्त्रानुसरण पर कवि का उतना आग्रह नहीं है, जितना संयोग-चित्रण आदि में, फिर भी विरह की दशों दशाओं के कितने ही मार्मिक चित्र हमें नन्ददास के काव्य में मिल जाते हैं—

अभिलाषा

अहो नाथ अहो रसनाथ, जदुनाथ गुसाईं
नँदनन्दन बिड़राति फिरति, तुम बिन बन गाईं
काहे न फेरि कृपाल ह्वै, गो-ग्वालन सुधि लेहु
दुख जलनिधि हम बूड़हीं, कर अवलंबन देहु
निठुर ह्वै कहँ रहे

(भँवरगीत)

चिन्ता

इहाँ कुँवरि तरफटत, फिरत घर आँगन ऐसै
रवि-कर तपत करी मछरी, थोरे जल जैसै
चढ़ि-चढ़ि अटनि, झरोखनि, झाँकति नवल किसोरी
चंद-उहै ज्यौं चाहत, आरत दृगन चकोरी

(रुक्मिनीमंगल)

स्मरण

सुनत स्याम कौ नाम, ग्राम गृह की सुधि भूली
भरि आनँद रस हृदय प्रेम-बेली द्रुम फूली
पुलकि रोम सब अंग भये, भरि आये जल नैन
कठ घुटे गदगद गिरा, बोले जात न बैन
व्यवस्था प्रेम की

(भँवरगीत)

गुणकथन

हे सखि ! नैनन कौ फल यहै, सुन्दर प्रियतम-दरसन चहै
तिनकहुँ फल पिय-दरसन फरै, छिनछिन बदन विलोकन करै
यातै अवर नहिंन कछु परै, निसि वासर अवलोकन करै
सौ फल सखिन सहित बनबन मै, बल समेत डोलत गोगन मैं
मधुर मधुर धुनि वेनु बजावत, अनेक रागरागिनी उपजावत
तानन के सँग स्निग्ध कटाछे, चलत जु मन्दहँसनि के पाछे
जिनकरि वह सुन्दर मुख चह्यौ, नैनन कौ फल तिनहीं लह्यौ

(दशमस्कध, गोपिकागीत)

उद्वेग

उमकि दै नैन नीर भरि आवै, पुनि सुधि जाइ महाछवि पावै
पुलकि अंग सुरभंग जनावै, बीचबीच मुरझाई आवै
विवरन तन अस देइ दिखाई, रूप वेलि जैसे घाम में आई

(रूपमंजरी)

प्रलाप

अहो कदंब ! अहो अंब-निंब ! क्यौं रहे मौन गहि
अहो बटतुङ्ग, सुरंग वीर, कहुँ तैं इतउत लहि

अहो अशोक, हरिसोक, लोकमनि पियहि बतावहु
अहो पनस सुभ-भासन, प्यासन अमृत जु प्यावहु

(रासपंचाध्यायी)

उन्माद

इहि विधि बनघन ढूँढ़ि, बूझि उनमत की नाईं
करन लगीं मन-हरन, लाल-लीला मन-भाईं

× × ×

हरि कीसी चलनि, बिलोकनि, हरि कीसी हेरनि
हरि कीसी गाइन घेरनि-टेरनि, वह पट-फेरनि
हरि कीसी बन तैं आवनि, गावनि अति रसरंगी
हरि कीसी कंदुक रचनि, नचनि ह्वै ललित त्रिभंगी

(वही)

व्याधि

जो कोउ कमल फूल पकरावै, हाथ न छुवै निकट धरवावै
अपने कर जु विरह जुर ताते, मति मुरझाहि डरति तिय याते

(रूपमंजरी)

जड़ता

गोरे तन की जोति, छूटि छबि छाइ रही घर
मानौं ठाढ़ी कुँवरि, सुभग कंचन अवनी पर
जसु घन तैं बिछुरी बिजुरी, मानिनि-तन-काछैं
किधौं चंद सौं रूसि, चंद्रिका रहि गइ पाछैं
नैनन तै जलधार हार धोवत धर धावत
भँवर उड़ाइ न सकति, बास-बस मुख ढिग आवत

(रासपंचाध्यायी)

मूर्च्छा

विह्वल ह्वै धरनी परी, ब्रज बनिता मुरझाइ

(भँवरगीत)

मरण

अब मौ पै छिन जियौ न जाई, जो हौ कहौ सु करहिं री माई
सुन्दर सुमनन सेज बिछाई, अरगज मरगज डसनि जलाई
चन्दन चरचि, चंद उगवाई, मंद सुगंध समीर बहाई
पिक गवाइ, केकी कुहकाई, पपिहा पै पीउ-पिउ बुलाई
मधुर मधुर तू बीन बजाइ, मोहन नन्दसुवन गुन गाइ
मौं कहि कुँवरि ग्रीव जब मोई, धर धराइ तब सहचरि रोई

(रूपमंजरी)

इस प्रकार हम देखते हैं कि नन्ददास ने 'विरह' के सिद्धान्तों का ही निरूपण नहीं किया है, उनके विरहकाव्य में विरहिणी की सभी प्रवृत्तियों का अत्यन्त सूक्ष्म और प्रभावशाली वर्णन है। उनकी विरह-सम्बन्धी रचनाएं अधिकांश खंडगीतात्मक हैं, अतः उनमें इन परिस्थितियों का विकास रस की दृष्टि से हुआ है; फुटकरों पदों में जिस प्रकार केवल "भाव" की ही योजना हो सकती है, उसका यहाँ अभाव है।

५ अलकार

नन्ददास की दृष्टि रस पर है, अलकार पर नहीं, परन्तु वे साहित्यिक हैं। इसलिए उनकी रचनाओं में अलङ्कार स्वतः ही आते हैं। सूरदास ने उनके लिए 'साहित्यलहरी' (१६०७ में) लिखी थी जिसमें उन्हें नायिका-भेद और अलङ्कारों की शिक्षा दी थी, इससे नन्ददास अलंकारों की एकदम उपेक्षा नहीं कर सकते थे। परन्तु उन्होंने यह समझ लिया था कि काव्य-गुण प्रगट करने के लिए यह

आवश्यक नहीं कि रचना में अलकारों की माला ही गूंथ दी जाय इसी से उन्होंने केवल कुछ भी अलकारों का प्रयोग किया है। वे अलंकार स्वाभाविक रूप से ही उनके काव्य में आते हैं जैसे—

अनुप्रास

हे चन्दन, मुखबन्दन सब की जरन जुड़ावहु
नदनंदन, जगबंदन, चदन हमें बतावहु

रूपक

नव मरकत मणिश्याम, कनक मणिगण ब्रजबाला

उत्प्रेक्षा

वृन्दावन को रीझि मनो पहिराई माला

उपमा

(१) सखिसौं वह लपटनि अलबैली
अरूझी हेमप्रेम जनु बेली

(२) नये धौरहर सुखद, सुबास
जनु धर पै दूसर कैलास

(३) महाबकी ज्यौं आवति रात, झट दे मोहि लीलि ही जाति
मदन दाढ़बिच ही दै चँपै, तिहि दुख ताको तन मन कँपै
रवि जौ तनिक न लेइ छुड़ाइ, तौ मोहि निसा बकी गिलि जाइ

यही कुछ उनके प्रमुख अलङ्कार हैं जिनका बार-बार अत्यन्त सुन्दर प्रयोग हुआ है। कितने ही प्रयोगों पर पूर्ववर्ती कवियों और सूर की छाप है जैसे

नवला निकसति तीर जब नीर चुवत बर चीर
अँसुवन रोवत बसन जनु, तन बिछुरन की पीर

इसकी तुलना विद्यापति के इस पद से कीजिये —

सजल चीर रह पयोधर सीमा। कनक बेलि जनि पड़ि गेलि हीमा॥
ओनुकि करताहि चाहे किए देहा। अबहि छोड़त मोहि तेजन नेहा॥
एसन रस नहि पाउव आरा। ईये लगि रोइ गलय जलधारा॥

इसी प्रकार वयःसंधि और यौवनागम के चित्रण में विद्यापति के काव्य का विशद प्रयोग है। रूपवर्णन में विद्यापति और सूर दोनों ही कवि को प्रभावित कर रहे हैं। और शब्दालकार के लिए कवि पर स्पष्ट रूप से जयदेव के श्रुतिमधुर काव्य का प्रभाव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने पूर्ववर्ती सारे साहित्य से अपने काव्य को पुष्ट किया है और अलकारों के समीचीन प्रयोग से उसे सुन्दर बनाया है।

६ छन्द

नन्ददास के काव्य में अनेक छंदों का प्रयोग हुआ है परन्तु मुख्य छन्द कुछ थोड़े ही है। इन्हे कवि ने अच्छी तरह माज लिया है और वे उसकी अपनी विशिष्ट चीज हो गए हैं। इसी अभ्यास-बहुलता के कारण उनमें कला का रूप अत्यन्त स्वाभाविकता से समाविष्ट हो सका है। उनके ग्रंथों में छन्दों के प्रयोग की तालिका इस प्रकार हैः—

(१) पंचमंजरी ग्रथ और दशमस्कंध—इन ग्रन्थों में चौपई, चौपाई और दोहा छन्द प्रयुक्त हुए हैं। चौपई १५ मात्राओं का छंद है, चौपाई १६ मात्रा का, परन्तु कवि ने इस भेद पर ध्यान नहीं रखा है, कहीं १५ मात्रा, कहीं १६ मात्रा का छंद लिखता गया है। वास्तव में चौपई-चौपाई का यह अभेद कबीर और तुलसी-जायसी की भी रचनाओं में मिलता है। इससे कहीं-कहीं तो १६ मात्रा के छन्द की समरसता भी तोड़ी गई है, परन्तु अधिकाश प्रमादवश एक मात्रा की कमी से चौपाई छन्द चौपई

हो गया है। चौपाई में चार चरण होना चाहिये, इस लिए ही तुलसी ने प्रत्येक ४ चौपाइयों (१६ चरणों) के बाद एक दोहा रखा है, यद्यपि सदैव ही यह क्रम नहीं निभाया है। तुलसी के अतिरिक्त अन्य कवियों ने यह क्रम नहीं निभाया है। सूफी कवियों में ५, ७, ६ अर्द्धालियों के बाद दोहा आता है। नन्ददास ने इतना भी क्रम नही रखा। जहाँ चाहा, दोहा डाल दिया, फिर चौपई लिखना शुरू की। सूरदास ने चौपई छन्द, कभी-कभी चौपाई छ्रद, का विशद प्रयोग सूरसागर में किया है। पदों से इतर इसी छन्द में विशेष रचना की गई है। नन्ददास ने उन्हीं का अनुसरण किया, परन्तु तुलसी-जायसी के ढंग पर दोहा जोड़ दिया।

(२) रासपंचाध्यायी, सिद्धांतपंचाध्यायी और रुक्मिणी मङ्गल— इन ग्रन्थों में रोला छंद का प्रयोग हुआ। रोला में ११ और १३ मात्रा की यति से २४ मात्राएं होनी चाहिये। परन्तु बाबू जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकर ने "रोला के लक्षण" शीर्षक लेख में लिखा है कि "रोला छंद में ग्यारह मात्राओं पर विरति होना आवश्यक नहीं है; पर हो, तो अच्छी बात है।" नन्ददास ने सदैव ही यति के नियम को नहीं निभाया है। इस छन्द के लिखने में नन्ददास को अपूर्व सफलता मिली है।

(३) भँवरगीत, श्याम सगाई— इन दोनों ग्रन्थों में एक मिश्रित छन्द का प्रयोग किया गया है। पहले एक रोला, फिर एक दोहा, फिर दस मात्रा की टेक, जैसे

अरी वीर ! चलि जाउ कहौं यह बिनती मेरी १२+१२=२४
जौ जीवैगी कुंवरि, वीर, मैं करिहौ तेरी ११+१३=२४
पाँइ लगौं, बिनती करौ, जस जस आवै तोहिं १३+१२=२५
वेगि पठै नन्दलाल कौ, जीवदान दै मोहि १३+१२=२५
रावरी सरन हौं० (१०)

सूरदास ने एक भ्रमरगीत में रोला और दोहा की ऐसी ही आयोजना की है और नन्ददास ने वहीं से इस छन्द में भ्रमरगीत लिखने की प्रेरणा ली है, परन्तु एक अन्य स्थल पर सूरदास ने दस मात्रा की टेक के साथ इस मिश्रित छन्द का भी प्रयोग किया है। अतः प्रयोग सर्वथा मौलिक नहीं है फिर भी इसका रूप सूरदास से निखरा है।

(४) अनेकार्थमंजरी, नाम माला—

इन ग्रन्थों में दोहा छन्द का प्रयोग मिलता है। दोहा-चौपाईवाले ग्रन्थों में कहीं-कहीं बीच में सोरठा भी मिलता है। सोरठे में दोहे का उल्टा मात्रा-क्रम है (११, १३)। इसलिए कभी-कभी उसके प्रयोग से काव्य की समरसता जाती रहती है। इसीलिए दोहों के बीच-बीच में, या साथ सोरठे का प्रयोग है।

(५) कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि—

ये रीतिकाव्य के प्रमुख छंद हैं, परन्तु भक्तिकाव्य में भी इनका काफ़ी प्रयोग हुआ है। तुलसीदास की 'कवितावली' में ये सभी छंद अत्यन्त प्रौढ़ रूप में मिलेंगे। इससे यह पता चलता है कि काव्य के मुक्तरूप के लिए जिस प्रकार दोहा कबीर के समय से चला आता था, उसी तरह भक्ति-काल के साथ ही काव्यप्रधान या भावपूर्ण मुक्तक विचार के लिए प्रयोग आरम्भ हुआ। सूरदास ने भी इन छदों का प्रयोग किया, और नन्ददास ने भी, परन्तु इन दोनों कवियों में ही हम इन्हे अपरिमार्जित एवं अविकसित रूप में पाते हैं। नन्ददास का यह कवित्त प्रसिद्ध ही है—

कृष्णनाम जबतें श्रवन सुन्यौ री आली,
भूली री भवन हौं तौ बाबरी भई री
भरि-भरि आवैं नैन, चितहू न परे चैन,
तन की दसा कछु औरे भई री

जेतिक नेम-धर्म-व्रत कीने री मैं बहु बिधि,
अंग अंग भई मैं तौ श्रवनमई री
'नन्ददास' जाके श्रवन सुने ऐसी गति,
माधुरी मूरति कैंधौ कैसी दई री

इस कवित्त में कृष्ण के पूर्वराग का वर्णन है। यह स्पष्ट है कि इसमें कला की वह प्रौढ़ता नहीं है जो नन्ददास के रोला-दोहा-टेक छन्द में है। एक अन्य लय-प्रधान छन्द की बानगी देखिये—८+८+८+६—वर्णों का क्रम प्रत्येक चरण में इस प्रकार है—

चिरैया चुहचुहानी, सुनि चकई कीर बानी,
कहति जसोदर रानी, जागौ मेरे लाला

कवित्त का एक और उदाहरण लीजिये—

वृन्दावन वंशीबट, कुंज यमुना के तट,
रास मैं रसिक प्यारौ खेल रचे वन मैं
राधा-माधौ करजोरैं, रवि-ससि होत भोरैं,
मडल में निर्तत दोऊ सरस सघन मैं
मधुर मृदग बाजै, मुरली की ध्वनि गाजै,
सुधि न रही री कछु सुरमुनि जन मैं
'नन्ददास' प्रभु प्यारौ, रूप उजियारौ कृष्ण,
क्रीडा देखि थकित सब जग जन मन मैं

यहाँ प्रत्येक चरण ८+८+८+७ है। यति की योजना भी खूब है। पहले जो ८ वर्ण-खंडों में मध्यानुप्रास का आग्रह है, कला की अपरिपक्वता का सूचक है।

पद

नन्ददास के पदों में अनेक छंदों और अनेक गीतखडों का प्रयोग हुआ है। उनको राग-रगिनियों ने सचालित किया, पिगल उनका

आधार नहीं है, परन्तु यह नहीं है कि छंदों का कोई पिंगल ही नहीं बनाया जा सके। अधिकाश पदों पर सगीत की "ध्रुपद"—शैली की छाप हैं, जिसका प्रचलन मध्ययुग के राजदरबारी सगीत में विशेष था जैसे इस पद में

चटकीलो पट लपटानो कटि, वंसीवट
जमुना के तट ठाड़ो नागर नट ॥
मुकुट लटक और कुंडल चटक
भ्रकुटी विकट तामें अटक्यो री मेरो मन ॥
चरण लटपटे आछे कनक लकुट
चटकीली बनमाल।
कर ऐके द्रुम डाल टेड़े ठाड़े
नन्दलाल छत्र छाई घटपट।
नन्ददास प्रभुप्यारी बिन देखे गोपी-ग्वाल
टारे न टरत याते निपट निकट आवे सौंधें की लपट ॥

यहाँ 'र' 'ल' अनुप्रास की प्रधानता और ट-ट वर्णों के टुकड़ों का प्रयोग एवं वर्ण-सघर्ष और वक्रता ध्रुवपद गायिकी की विशेषता को ही उन्मुख कर रही है। कविता का सारा ढाँचा और सौन्दर्य यहाँ इसी गायिकी शैली पर टिका है।

७ भाषाशैली

"नन्ददास में दो गुणों की प्रधानता है। वे दोनों गुण हैं माधुर्य और प्रसाद। माधुर्य तो उच्च श्रेणी का है। प्रत्येक पद मानों अगूर का एक गुच्छा है, जिसमें मीठा रस भरा हुआ है। शब्दों में कोमलता भी बहुत है। पंक्तियों में न तो सयुक्ताक्षर हैं और न लम्बे-चौड़े समास ही। शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है। जो कुछ कहा गया है, वह भी बहुत थोड़े शब्दों में और सुन्दरता के साथ।

'अर्थ अमित अति आखर थोरे।'

(हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ६६०)

"शब्दचित्रों से नन्ददास ने मधुर ब्रजभाषा को और भी मधुर बना दिया है। रसावेश से हर्षित लटकते हुए कृष्ण ने कुसुम धूम से धुंधले कुंज में प्रवेश किया जहाँ मधुकरों के पुंज थे। इसका वर्णन कवि करता है—

कुसुम धूरि धूँधरी कुंज, छवि पुंजन छाई
गुंजत मंजु अलिंद, बीन जनु बजत सुहाई

इस शब्द-कुंज में 'धू' की कुसुम-धूलि कई बार उड़ रही है, 'म' की पुनरावृत्ति में भौरों की गूंज सुनाई पड़ रही है और यद्यपि कवि ने केवल इतना ही कहा है कि वहाँ भौंरे है, फिर भी हम स्पष्ट सुन कहे हैं कि वहाँ भौंरें हैं। पहला पद एक कुंज की तरह है। अनुस्वार तथा सघन पल्लवों की तरह 'र' तथा 'घ' आवेष्ठित किये हैं, 'ज' की पुनरावृत्ति ने द्रुमकुंज में अँधेरा कर दिया है। सहसा ही दूसरा पद हुलसता आता है जो श्री कृष्ण की भाँति लटक कर उस पहले पद के कुंज में प्रवेश कर जाता है।

दूसरा शब्द चित्र देखिये। सघनकुंज में चन्द्रमा की पतली किरन झिलमिलाती हुई, काँपती हुई गिर रही है—

फटिक-छटा सी किरन, कुंज रंध्रनि जब आई
मानहुँ वितन बितान, सुदेश तनाव तनाई

'फ' का उच्चारण ओष्ठ से होता है। इसलिए 'फटिक' के कहते ही होंठ खुल जाते हैं। 'छ' का उच्चारण तालु से होता है। इसलिए 'छ' के कहते ही होंठ और खुल जाते हैं और दाँतों की फटिक स्वच्छता दिखाई देती है। बस, दंतपक्ति-ही सा स्वच्छ किरण का वर्ण है। लेकिन यह 'किरण' नहीं है, 'किरन' है, क्योंकि 'कुंज के सघनरंध्र' से छनती आ रही है।

यह तो स्वरूप का चित्र हुआ। अब गति का एक चित्र देखिये—

मंदमंद चलि चारु चन्द्रमा अस छवि पाई
उझकत है जनु रमारमन, प्रिय कौतुक आई

इस पद में अधिक वर्ण ह्रस्व हैं। इ, उ, सब छोटे हैं। पद अत्यन्त धीरे-धीरे चल रहा है, जैसे चन्द्रमा में आकाश।"

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सं० २०,१६३६–१६४०, नन्ददास, श्री शम्भुप्रसाद बहुगुना)

ऊपर के दो अवतरणों में नन्ददास की भाषाशैली की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) माधुर्य गुण और प्रसाद गुण

(२) समास-पद्धति

(३) वर्णों के नादात्मक प्रयोग द्वारा शब्दचित्र और मूर्तचित्र उपस्थित करना

(४) ह्रस्व वर्णों का कलापूर्ण प्रयोग

कला की दृष्टि से नन्ददास की सब से सुन्दर पुस्तक 'रासपंचाध्यायी है'। हिन्दी-साहित्य में जयदेव के "गीति गोविन्दम्" की माधुरी का जोड़ यही ग्रंथ कर सकता है। कदाचित् यह भ्रम भी है कि नन्ददास ने जयदेव की शैली को ग्रहण किया है—ऐसी श्रुति-मधुर और कोमल-कांत पदावली और कहीं नहीं मिलेगी। बात केवल इतनी है कि जयदेव की भाँति नन्ददास ने भी खोज-खोज कर सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया है। जयदेव की खोज केवल संस्कृत तक है, परन्तु नन्ददास को संस्कृत और व्रजभाषा दोनों में खोज करनी पड़ी है। संस्कृत शब्दों का प्रयोग बाहुल्य देखिये—

क्वासि क्वासि! पिय महाबाहु! इमिं बदति अकेली
महाविरह की धुनि सुनि रोवत खग, मृग, बेली

किस अकथ परिश्रम से कवि भाषा महल उठाता है, देखिये—

मुख अरविन्दन आगे, जल-अरविन्द लगै अस
भोर भये भवनन के दीपक मन्द परत जस
मंजुल-अञ्जुलि भरि-भरि पिय कौ तिय जल मेलहि
जनु अलि सों अरविन्द वृन्द मकरदन खेलहि
छिरकत हैं छवि छैल, जमुनजल अंजुलि भरिभरि
अरुन कमल मंडली, फाग खेलत जनु रंग करि
रुचिर दृगंचल चंचल, अंचल में झलकत अस
सरस कनक के कंजन, खंजन जाल परत जस

और देखिये—

नूपुर, कंकन, किंकिन, करतल, मंजुल मुरली
ताल, मृदंग, उपंग, चंग एकहि सुर जुरली
मृदुल मुरज-टंकार, तार झंकार मिली धुनि
मधुर जंत्र की तार, भँवर गुंजार रली पुनि

पहले अवतरण में कितनी सुन्दर उपमाओं के साथ भाव-सौन्दर्य भी विकसित किया गया है, नाद-सौन्दर्य तो है ही। दूसरे में सुन्दर शब्दों की एक माला ही गूंथ दी गई है। इसी से रासपंचाध्यायी की समाप्ति पर नन्ददास कहते हैं—

यह उज्जल रसमाला, कोटि जतन करि पोई
सावधान ह्वै पहिरौ, इहिं तोरौ मति कोई

पग-पग पर कवि का परिश्रम, उसका शब्दकोष, उसका ध्वनिज्ञान द्रष्टव्य है। इसीलिए तो नन्ददास को 'जड़िया' कहा गया है। भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध में नन्ददास के क्या विचार थे, यह हम रूपमंजरी से जान सकते हैं—

रसमय सरसुति के पाँ लागौं, अस अच्छर धौ यह बर मागौं
सुन्दर कोमल, बचन अनूठे, कहत सुनत समुझत अति मीठे

नाहिन उघरे, गूढ़ न ऐसे, मरहट देस बधू कुच जैसे
पुनि कवि अपने मन में गुनै, मो कवित्त कोउ निरस न सुनै
रस विहीन जो अच्छर सुनही, ते अच्छर फिरि निज सिर धुनहीं
बाला-स्मित, कटाच्छ औ लाज, अँधरे बालम के किहि काज

(२५—३०)

नन्ददास की शैली का प्रयोग भी भाषा के प्रयोग से किसी तरह कम महत्वपूर्ण नहीं है । वे दोनों प्रकार की शैलियों का प्रयोग का प्रयोग करते हैं—आलकारिक अनालंकारिक । "अनुप्रासादि शब्दालकारों तथा उपमा, उत्पेक्षा, रूपक आदि अर्थालकारों से लदी हुई जिस आदर्श साहित्यिक भाषा की कवि ने सृष्टि की है, उसमें सरस प्रवाह है, अद्भुत संगीत है, और हृदय पर चोट करने की अपूर्ण क्षमता है" ('नन्ददास', पृ० १११, भूमिका) । कहीं तो वह एक बात कह कर उसकी पुष्टि में उपमाओं की इतनी चमत्कारिक झड़ी लगा देता है कि हम उसकी कला पर मुग्ध हो जाते हैं । जहाँ वह इतिवृत्तात्मक निरलकारिक वर्णन लिखता है, वहाँ भी वह भाषा के माधुर्य और स्वाभाविक प्रयोग के विषय में अति-सतर्क है भावावेश की उपस्थिति के कारण यह निरलकारिक भाषा भी एक सुन्दर चीज़ हो जाती है । हम उसके प्रवाह में बह जाते हैं ।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि नन्ददास का कलापक्ष अत्यन्त पुष्ट है, सूरदास से भी अधिक । कला के इस पग पग पर अनुरोध के के कारण ही जनता ने उन्हें "जड़िया" कह रखा है । इस "जड़िया" वृत्ति के कारण जहाँ 'काव्य" का और कोई गुण नहीं है, वहाँ भाषाशैली ही हमें अटकाए रखती है परन्तु जब इस के साथ भाव, सौन्दर्य और काव्य-गुणों का भी समावेश हो जाता है, तो नन्ददास का काव्य इस पृथ्वी की चीज़ नहीं रहता ।

———

७

परिशिष्ट

वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत दर्शन और पुष्टिमार्ग

अष्टछाप के कवियों के काव्य को भलीभाँति समझने के लिए उसे वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ के धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों की पृष्ठभूमि में रखना परमावश्यक है। ऐसा किये बिना हम न उसका साम्प्रदायिक महत्त्व आँक सकेंगे, न उसकी प्रेरणा को ही ठीक-ठीक समझ सकेंगे।

वल्लभाचार्य के पिता दक्षिणी पंडित थे। अनुमानतः सं० १५३३-३४ के पूर्व लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी इल्लम्मागारु और जातीय बन्धु-बान्धवों के साथ तैलङ्ग देश से उत्तर भारत में आकर काशी में रहने लगे। सं० १५३५ के आरम्भ में काशी पर मुसलमानों के आक्रमण की आशंका हुई, इससे ये सब लोग स्वदेश भागे। प्रयाग होते हुए मध्यप्रदेश की ओर बढ़े। यहाँ मध्यप्रान्त के रायपुर ज़िला के चम्पारण्य बन में वैसाख कृष्ण ११ को वल्लभाचार्य का जन्म हुआ। इसी समय काशी में उपद्रव शान्ति के समाचार मिले और वे वहाँ लौट आये।

यज्ञोपवीत के ४-५ वर्ष के बाद पिता का देहान्त हो गया। परन्तु इनकी शिक्षा-दीक्षा बराबर चलती रही। उन्होंने प्रचलित सिद्धान्त ग्रन्थों का अवलोकन किया और वेदान्त-विषयक अध्ययन किया। परन्तु काशी उन दिनों मायावादियों का केन्द्र था। वहाँ किसी मत को एकाएक स्थापित नहीं किया जा सकता था। इसलिए वल्लभाचार्य ने

दक्षिण की ओर प्रयाण किया। वे विद्यानगर की राजधानी में राजा कृष्णदेवराम के यहाँ पहले पहुँचे। यहाँ एक महती सभा थी। व्यासतीर्थ नामक एक मध्वाचार्य सम्प्रदाय के आचार्य अध्यक्ष थे। उस समय उस सभा में एक शास्त्रार्थ चल चुका था और ब्रह्मवादियों को मायावादियों ने पराजित कर दिया था। वल्लभ ने ललकार कर मायावाद का खडन किया और शुद्ध ब्रह्माद्वैत का प्रतिपादन कर विपक्षियों पर विजय-पताका फहराई। राजा के आग्रह से वे कुछ दिनों के लिए वहीं रह गये परन्तु उसके दिये द्रव्य के अर्धांश से एक रत्नजटित स्वर्ण-मेखला वहीं के श्री विट्ठलनाथ को समर्पित की। व्यासतीर्थ उन्हें मध्व सम्प्रदाय में दीक्षित करके अपनी गद्दी देना चाहते थे, परन्तु वल्लभ का आग्रह विष्णुस्वामी के मत की ओर अधिक था। 'विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की सृष्टि सारस्वत कल्पीय, उसका सिद्धान्त वेद-गीता-व्यास सूत्र-भागवत प्रतिपादित और आचार्य भगवन्मुख स्वरूप वैश्वानर एवम् उपास्यरूप शुकवागमृताब्धीन्द श्री गोपीजन-वल्लभ भगवान श्रीकृष्ण हैं" (सम्प्रदाय प्रदीप, गदाधर द्विवेदी, सं० १६१०)

विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के एक आचार्य बिल्वमंगल ने उन्हें स्वप्न में आदेश दिया—'अन्य सम्प्रदायों (रामानुज, मध्व, निम्बार्क) में नारदपञ्चरात्र वैखानसादि-शास्त्र प्रतिपादित दीक्षा-पूजा का प्रचार होने से यद्यपि विष्णु स्वामी सम्प्रदाय में आत्मनिवेदनात्मक भक्ति की स्थापना की गई है, यथापि वह मर्यादामार्गीय है। अब आपके इस सम्प्रदाय में पुष्टि (अनुग्रह) मार्गीय आत्मनिवेदन द्वारा प्रेम-स्वरूप निर्गुण भक्ति का प्रकाश करना है। सम्प्रति भक्ति मार्गानुयायी जन-समाज शाकर सिद्धान्त के प्रचार बाहुल्य से पथ भ्रष्ट हो रहा है, अतः उसके कर्तव्य तो आपके द्वारा ही सम्पन्न हो सकते हैं' (वही पृ०, ८६)

कुछ दिनों बाद वल्लभ ने विद्यानगर छोड़ दिया और वे प्रयाग होते हुए काशी पहुँचे। काशी जाकर उन्होंने उपनिषद्, गीता, व्यास-सूत्रादि के सहारे अपने सिद्धान्त दृढ़ किये और प्रस्थान ग्रन्थों का

शुद्धाद्वैत के दृष्टिकोण से भाष्य किया। उन्होंने बद्रिकाश्रम, हरिद्वार और अन्य तीर्थों की यात्राएँ की। ८४ स्थानों पर भागवत का सप्ताह पारायण किया। ये स्थान अब 'वल्लभाचार्य की बैठक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार उन्होंने जीवन भर में ३ बार परिक्रमायें की और स्थल-स्थल पर भागवत का सप्ताह-पारायण, भक्ति (पुष्टि) मार्ग का प्रचार और शास्त्रार्थ द्वारा शुद्धाद्वैतमत की स्थापना भी की। कृष्णदास मेघन उनके सेवक के रूप मे इन यात्राओं में उनके साथ रहे। उस समय के अन्य सम्प्रदायों के अनुयायी रामानन्द और शंकर मिश्र (प्रभुदास) प्रभृति पंडित उनकी भागवत-टीका सुनकर उनके सेवक हो गये।

प्रभु की प्रेरणा से काशी आकर वल्लभाचार्य ने गाहस्थ्य धर्म में प्रवेश किया और पंडित देवदत्त भट्ट की कन्या से विवाह किया। इसी समय उन्होंने 'पत्रावलम्बन' लिखकर मायावाद के खंडन में श्लोक रचे और शास्त्रार्थ का आग्रह किया। उस समय सब जगह शांकर अद्वैत का ही मान था जिसमें ब्रह्म निर्धर्मक, निराकार है; प्रपंच मिथ्यास्वरूप, मायाकृत है और जीव चैतन्यस्वरूप ब्रह्म है। वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत की स्थापना की। उन्होंने कहा कि ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रय है, प्रपंच भगवत्कृत होने से सत्य और संसार अहन्ताममतात्मक होने से मिथ्या है और जीव भगवदंश-अणुस्वरूप-विसर्पिगुण-चैतन्य है। अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में उन्होंने चार प्रकार के ग्रन्थ प्रमाण माने १—उपनिषद, २—गीता, ३—उत्तर-मीमांसा (व्यासकृत) और ४—भागवत। इन्हें इन्होंने प्रस्थान चतुष्टय कहा है। इससे पहले के आचार्यों ने पहले तीन ग्रन्थों को ही प्रस्थान त्रयी के नाम से प्रमाण माना था। भागवत के प्रमाण रूप पर उन्हें विशेष आस्था थी—उन्होंने कहा है 'भागवत भगवान वेदव्यास की समाधि भाषा है।' (वही, पृ० ६८)

परन्तु काशी में फिर भी मायावाद का प्राबल्य रहा, इसलिए वल्लभ कृष्ण भक्ति का प्रचार करने के लिए पास के चरणाट गाँव में रहने लगे। इसके अनन्तर प्रभु की प्रेरणा से वे नित्य लीलास्थल गोकुल में निवास करने लगे और वहाँ उन्होंने भगवद् सेवा का आदर्श स्थापित किया। वे वृन्दावन मे एक मदिर बनवा कर सपरिग्रह सेवा करने,लगे। यहीं काश्मीर के भक्त पंडित केशव भट्ट से उनकी मैत्री हो गई। वृन्दावन में उन्होंने सप्ताहपारायण भी किया और फलस्वरूप केशवभट्ट के शिष्य माधवभट्ट आदि भी इनके शिष्य हो गये। इन्हीं के द्वारा 'सुबोधिनी' लेखन का आरम्भ हुआ। श्रीवल्लभ सपरिवार गोकुल से आकर श्रीगिरिराज की उपत्यका में श्रीनाथजी की सेवा करते हुए रहने लगे। उन्होंने मुक्ति की अपेक्षा भगवत सेवा को ही बड़ा माना।

एक बार वे गोकुल से प्रयाग होकर जगन्नाथपुरी गये। वहीं श्रीकृष्ण चैतन्य से उनका साक्षात्कार हुआ और दोनों में घनिष्ठता हो गई। कुछ समय बाद (सबत् १५६७) गोपीनाथ का जन्म हुआ और वे व्रजमंडल लौट आये। यहाँ वे श्रीकृष्ण की बाललीला में तल्लीन हो गये। उन्होंने द्वारिका, बद्रिकाश्रम अनेक स्थानों पर पुष्टिभक्ति का प्रचार किया।

इस प्रकार अपने जीवन कर्तव्य को समाप्त कर वे त्रिवेणी तट पर अड़ैल में रहने लगे। यही सं० १५७८ ई० में विट्ठलनाथ का जन्म हुआ। वे ग्रथों की रचना में लगे। ये ग्रंथ है—निबन्धत्रय, षोडश ग्र थ, अणुभाष्य, भागवत की सुबोधिनी टीका जिसमें भागवत के स्कन्ध १, २, ३, ४ का कुछ अंश और १० की टीका है। इसके उपरात उन्होंने सन्यास धारण कर लिया और 'सन्यासनिर्णय' ग्रंथ को रचना की। वे भक्तिवेश में काशी पहुँचे। यहाँ उन्होंने 'शिक्षा श्लोक' रचकर अपने दोनों पुत्रों को अंतिम उपदेश दिया और यहीं भागीरथी की मध्यधारा में देह त्याग किया (सं० १५८७)। उनकी महत्ता यही

है कि उन्होंने "विष्णुस्वामी संप्रदाय प्रतिपादित सगुण भक्ति के स्थान पर निर्गुण और अहैतुकी भक्ति (निष्काम भक्ति) की स्थापना की तथा शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद का प्रवर्तन किया।" उनकी मृत्यु के बाद गोपीनाथ सम्प्रदाय की गद्दी पर बैठे परन्तु १५६१ में उनकी अकाल-मृत्यु हो गई और इसी वर्ष इनके पुत्र पुरुषोत्तमजी का भी गोलोक वास हो गया। अत: १५६१ संवत् में विट्ठलनाथ गद्दी पर बैठे। इनके समय में (१५६१—१६४२) वल्लभ सम्प्रदाय की बड़ी उन्नति हुई।

वल्लभाचार्य से पहले भक्तिसम्प्रदाय के चार बड़े आचार्य हो चुके थे। विष्णुस्वामी, माध्व, रामानुज और निवार्क। इसमें माध्व का सिद्धात द्वैताद्वैत था, और उनकी भक्ति सेवक-सेव्य-भाव से राम के प्रति थी। रामानुज के ब्रह्म-सिद्धात का नाम विशिष्ठाद्वैत था और वे लक्ष्मी-विष्णु और उनके अवतार सीताराम के उपासक थे। विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत और कृष्णभक्ति का प्रवतन किया। निंवार्क तो कृष्णभक्ति के केन्द्र पढारपुर में प्रगट हुए थे जहाँ विठोवा (बालकृष्ण) की भक्ति कई शताब्दियों से चली आती थी। इन्होंने ही जगन्नाथपुरी में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी-संप्रदाय को परिष्कृत, एवं विस्तृत तथा सुसंबद्ध कर निर्गुणभक्तिमार्ग की स्थापना की। उनके इन सिद्धान्तों को 'संप्रदायप्रदीप' के लेखक ने 'पाँच सिद्धान्तरत्न' कहा है—

१—गुरुसेवा

२—भागवतार्थ (सुबोधिनी)

३—भगवत्स्वरूप निरूपण

४—भगवत्सेवा (पूजामार्गीय उपासना से विलक्षण)

५—निरपेक्षता ('हरिर्मयत्करिष्यति तथैव तस्यलीला')। इस प्रकार की भावनामय निरपेक्षता (निष्कामता) तो इस भक्ति (पुष्टि मार्ग) का देदीप्यमान मुकुटहीरक है। ये पाँच सिद्धान्त साधक के लिये सोपान क्रम हैं।

शुद्धाद्वैत दर्शन

जैसा हमने ऊपर बताया है, वल्लभाचार्य के दार्शनिक मतवाद को ही शुद्धाद्वैतदर्शन कहा जाता है। इतना निश्चित है कि आचार्य श्रीवल्लभ शुद्धाद्वैत के सर्वप्रथम प्रवर्तक नहीं थे। अवश्य ही इसका प्रसार उन्होंने ही किया और कई ग्रन्थ इस मतवाद के प्रकाशन में लिखे। 'उन्होंने ब्रह्म सूत्र पर अणुभाष्य, भागवत की व्याख्या सुबोधिनी, सिद्धान्त रहस्य, भागवत लीला रहस्य, एकान्त रहस्य, विष्णुपद, अन्तःकरण प्रबोध, आचार्य कारिका, आनन्दाधिकरण, नवरत्न, निरोध लक्षण और उसकी विवृति, सन्यास-निर्णय आदि अनेक ग्रंथों की रचना की। इनमें सिद्धान्त रहस्य और भागवत लीला रहस्य ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुए हैं। विष्णुपद हिन्दी भाषा का ग्रंथ है। इसमें विष्णुगुण प्रतिपादक कुछ पद है।'

(कल्याण, वेदान्तांक पृ० ७०१)

इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर शुद्धाद्वैत दर्शन की विवेचना होती है।

१ ब्रह्म

"आचार्य वल्लभ ब्रह्म को साकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वकर्तृ और सच्चिदानन्द रूप मानते हैं। उनके मत में ब्रह्म शुद्ध है, माया आदि ब्रह्म में नहीं है। ब्रह्म निर्गुण और प्राकृतिक गुणों से अतीत है। वे गुणातीत होने पर भी जगत के कर्ता हैं। ब्रह्म की शक्ति अचिन्त्य और अनन्त है। वे सब कुछ हो सकते हैं, अतएव उनमें विरुद्ध धर्मों और विरुद्ध वाक्यों का भी युगपत् समावेश हो सकता है। उनके मत में ब्रह्म ही जगत के निमित और उपादान कारण हैं। वे कर्ता भी हैं और भोक्ता भी। वे कर्ता होने पर भी निर्विकार हैं। उपादानकारण होने पर भी उनमें संसार-धर्म नहीं है।"

वल्लभ ने ब्रह्म के परस्पर विरोधी गुणों के कारण उसे—"विरुद्ध धर्माश्रय" कहा है। उसकी सर्वेश्वरता यही है कि वह निर्गुण-सगुण,

निर्धर्मक-सधर्मक, निराकार-साकार इन विरोधी रूपों में एक ही समय अवस्थित है।

२ माया

वल्लभ अन्य भक्ताचार्यों की भाँति माया के कट्टर विरोधी हैं। वे माया का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं करते यद्यपि एकाध स्थान पर उन्होंने उसे "ब्रह्म-जवनिका" लिखा है—परन्तु यहाँ 'माया' से उनका तात्पर्य अविद्या मात्र है। यदि माया है भी तो वह ब्रह्म के आधीन है, ब्रह्म उसके आश्रय नहीं है।

३ जीव

वल्लभाचार्य ने जीव-सम्बन्धी अपना मत ब्रह्मसूत्र के व्याख्या ग्रन्थ 'अणुभाष्य' में विशेष रूप से किया है। उनके मत में जीव अणु, भगवदंश और सेवक है। वह ब्रह्म नहीं है। उनके अनुसार ब्रह्म के तीन गुणों सत्, चित्, आनन्द में से जीव में आनन्दतत्व तिरोभूत हो जाता है। इस प्रकार सृष्टि-दशा में जीव तिरोहितानन्द ब्रह्म है। मुक्तावस्था में वह प्राप्तानन्द ब्रह्म है। परन्तु प्राप्तानन्द हो जाने पर भी उसमें अंश और सेवक भाव की विद्यमानता रहती है। ब्रह्म अंशी और सेव्य-स्वरूप है, जीव अंश और सेवक। जीव तिरोहितानद, ब्रह्म पूर्णानन्द। वल्लभ के अनुसार जीवात्माएँ तीन प्रकार की हैं १ जो 'ससार' में फँसी हैं और जिनका कल्याण असंभव है (प्रवाह), २ जो मर्यादा मार्ग का पालन करती है और मुक्ति को प्राप्त होती है (मर्यादा) और ३ जिनमें भगवदनुग्रह के कारण प्रेम के अंकुर फूटते हैं और जो भक्ति द्वारा ब्रह्म को प्राप्त होती हैं (पुष्टि)। इस श्रेणी और प्रकार-भेद से वल्लभ ने जीव के अनेक भेद किये हैं।

४ जगत (प्रपंच)

"आचार्य के मत में ब्रह्म कारण और जगत कार्य है। कार्य और कारण अभिन्न हैं। कारण सत् है, कार्य भी सत् है, अतएव

जगत सत् है। हरि की इच्छा से ही जगत का आविर्भाव हुआ है। हरि की इच्छा से ही जगत का तिरोधान होता है। ब्रह्म लीला के लिए अपनी इच्छा से जगत-रूप में परिचित हुए है। जगत ब्रह्मात्मक है। प्रपच ब्रह्म का ही कार्य है। आचार्य वल्लभ अविकृत परिणामवादी हैं। उनके मत से जगत मायिक नहीं है और न भगवान से ही भिन्न है। उसकी उत्पत्ति और विनाश नहीं। जगत सत्य है, पर उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। जगत का जब तिरोभाव होता है तब वह कारण रूप से और जब आविर्भाव होता है तब कार्य रूप से स्थित रहता है। भगवान की इच्छा से ही सब कुछ होता है। क्रीड़ा के लिये ही उसने जगत की सृष्टि की—अकेले क्रीड़ा सम्भव नहीं, इससे भगवान ने जीव और जगत की सृष्टि की।"

सत्यरूप ईश्वर से उत्पन्न जगत् असत्य कैसे होगा। कारण के गुण कार्य मे अवश्य प्रस्फुटित होते हैं। जनप्रपंच भगवत्कृत है, मायाकृत्य असत्य नहीं। वल्लभाचार्य के सिद्धात में नामरूपात्मक सृष्टि सत्य-नित्य है क्योंकि दोनों के सर्वविध कारण भगवान है। प्रपंच को मिथ्या, मायामय, स्वप्नमय, बतलाने वाले वाक्यों का अभिप्राय जीव को वैराग्य उत्पन्न कराना मात्र है।

प्रपच को सत्य, भगवतरूप मानने पर ही कार्यों को सार्थकता है। तभी कर्म, ज्ञान, भक्ति सत्य होकर फल प्रदान करेंगे, नहीं तो प्रपच असत्य होने पर धर्म, कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि पुरुषार्थ तथा तज्जन्य फल भी असत्य और अवास्तविक होंगे। श्रुति ने स्वयं कहा है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। प्रपच ही ब्रह्म है। प्रपंच की असत्यता के लिए शुक्ति रजत और रज्जुसर्प का तर्क उपस्थित किया जाता है। आचार्य कहते हैं कि मिथ्याज्ञान के लिए भी किसी तद्रूप यत्किंचित सत्य वस्तु का आश्रय अपेक्षित है। इससे ही यह उपमाएँ ब्रह्मजगत का वास्तविक सम्बन्ध प्रगट नहीं करतीं। ब्रह्म की उपादान-कारणता के कारण जगत

(सृष्टि) को सत्य-नित्य मानकर उसके आविर्भाव-तिरोभाव पक्ष को मानना सत्य है।

५—ससार

आचार्य के अनुसार 'ससार' और 'प्रपंच' अलग अलग वस्तुएं हैं। मायाकृत अविद्या से उत्पन्न 'अहंताममतामय'—ससार मिथ्या है। जीव भगवदिच्छा से अविद्याबद्ध होकर संसार प्राप्त करता है।

६—लक्ष्य और साधन

आचार्य के अनुसार अविद्या की निवृत्ति अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति ही लक्ष्य है। ब्रह्म की प्राप्ति से अविद्या की निवृत्ति होती है। अविद्या के कारण ही जीव को दुःख है। इसलिए ब्रह्मप्राप्ति ही पुरुषार्थ है।

परन्तु वल्लभाचार्य के 'ब्रह्मप्राप्ति' 'सायुज्य प्राप्ति' या 'मुक्ति' के अर्थ भी समझना होंगे। उनका मत है कि श्रीकृष्ण की सेवा करना और उनमें सर्वात्मभाव रखना ही मुक्ति है। जीव उस समय 'शुद्ध' होता है जब वह समस्त जगत को कृष्णमय देखकर कृष्ण के प्रेम में, उनकी सेवा करके, परमानन्दरस में तन्मय रहता है।

इस 'स्थिति' या 'भाव' को प्राप्त किया किस तरह जाये? भक्ति साधन है। भक्ति दो प्रकार की है—मर्यादाभक्ति और पुष्टि भक्ति। भगवान के विशेष अनुग्रह से जो भक्ति पैदा होती है, वह पुष्टि भक्ति कहलाती है। ऐसा भक्त भगवान के स्वरूप के अतिरिक्त और किसी वस्तु के लिए प्रार्थना नहीं करता।

श्रीवल्लभ के मतानुसार शमदमादि बहिरंग साधन हैं और श्रवण मनन तथा निदिध्यासन अंतरंग साधन। मुख्य साधन सेवा है—अर्थात् भगवान में चित्त की प्रवणता और सेवा में भी सर्वोत्कृष्ट सर्वात्मभाव मानसी सेवा है। सेवा के दो रूप है—फलरूपा और साधनरूपा।

मानसी सेवा फलरूपा है और द्रव्यार्पण तथा शारीरिक सेवा साधन रूपा।

आचार्य ने कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों मार्गों से मोक्षलाभ बताया है। परन्तु सर्वोत्तम फल भक्ति द्वारा ही प्राप्त होता है क्योंकि भक्त 'पूर्ण पुरुषोतम' में लीन हो जाता है, ज्ञानी 'अक्षर ब्रह्म' को ही प्राप्त होता है और कर्मकांडी केवल स्वर्ग पाता है। ये उत्तरोत्तर नीची स्थितियाँ हैं।

साधना की सबसे ऊँची स्थिति वह है, जब कोई साधन नहीं रहता। भक्त भगवान पर पूर्णतः आश्रित होता है। भगवान ही उसका पोषण करते है। तब वे विशेष अनुग्रह (पुष्टि) कर उसके साथ 'नित्य लीला' रचते हैं। गोपियाँ इस पुष्टि का सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

इस प्रकार वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों ने दार्शनिक जगत में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी और धर्म पर गहरी छाप छोड़ी। हम देखते हैं कि शंकर के मायावाद (अद्वैत वेदान्त) में भक्ति को केवल गौण, वह भी व्यावहारिक स्थान, मिला था, परन्तु बाद को अद्वैत पर आश्रित एक प्रकार की भक्ति की परम्परा चल पड़ी। इसमें भक्त निर्गुण के प्रति माधुर्य भाव से प्रेरित होता था। वल्लभाचार्य ने दार्शनिक दृष्टि से मायावाद का विरोध किया परन्तु वैसे वह अद्वैतवादी ही रहे। परन्तु उन्होंने अद्वैत भक्ति का प्रचार किया यद्यपि उसका माधुर्यपूर्ण रूप न स्वीकार करके सेवाभावपूर्ण रूप ही उन्हें ग्राह्य हुआ। भक्ति का प्रारम्भिक शास्त्रीय रूप भगवान के ऐश्वर्य पर अवलम्बित था परन्तु पुराणों ने वैष्णव धर्म के पुनरुत्थान के समय माधुर्य भक्ति (प्रकृति के साथ ब्रह्म की लीला) का आयोजन किया। वल्लभाचार्य ने शास्त्रीय मत को ही अधिक श्रेय दिया और अपने समय के उस प्रबल भक्ति स्रोत को आँख की ओट करने की चेष्टा की जो जयदेव के समय से बराबर बह रहा था।

२ पुष्टिमार्ग

वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धात शुद्धाद्वैतदर्शन कहलाते हैं और उनके धार्मिक एवं भक्तिपर मतवाद को पुष्टिमार्ग कहा जाता है।

वल्लभाचार्य के अनुसार कृष्ण ही इस कलियुग में आश्रय है (दे० कृष्णाश्रय)। उनकी सेवा ही एक मात्र धर्म है। शेष तो कर्तव्य पालन मात्र है (दे० चतुःश्लोकी)। यह सेवा किस प्रकार की हो, वल्लभाचार्य ने इसका स्वरूप 'सिद्धांत मुक्तावली' में स्थिर किया है—

कृष्ण सेवा सदा कार्या मानसी सा परामतः (सर्वकाल में कृष्ण की सेवा करनी चाहिये। यह सेवा मानसिक होना चाहिये।)
सेवा के रूप के सम्बन्ध में वे कहते हैं—चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धमैं तनुवित्तजा। ततः सार दुःखस्य निवृत्ति ब्रह्म बोधनम् [तनु (शरीर) और वित्त (धन) से सेवा मडान किया जाय, इससे सासारिक दुःख से निवृत्ति हो कर ब्रह्मबोध होगा] वास्तव में वल्लभ ने सेवा के दो बड़े भेद किये हैं

१ नामसेवा
२ स्वरूपसेवा

स्वरुप सेवा के तीन प्रकार है—तनुजा, वित्ता, मानसी। मानसिक सेवा भी दो प्रकार की हो सकती है—मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय। मर्यादामार्गीय सेवा के लिए दर्शन-ज्ञान की आवश्यकता है। उसे शास्त्रों (भागवदादि) से ग्रहण करना होगा। पुष्टिमार्गी ज्ञानाभाव में उत्सावादि में भाग लेता है, अनुग्रह की कामना रखता है जिससे ममता और अहता छूट कर भगवान के दर्शन होते हैं। मर्यादामार्ग से चलनेवाले को पहले आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, फिर लोकार्थी होकर क्लेश पाते हुए भी वह कृष्ण की सेवा और भगवद्भजन मे लगा

रहता है। अन्त में अहंकार-ममता-रूप संसार का नाश हो जाता है। पुष्टिमार्गीय भगवदनुग्रह की प्राप्ति की कामना रखता हुआ शुद्धभेद्य, भागवत, शरणावाचन आदि में लगता है। अन्त एक ही है, मर्यादा-मार्गी को भी वही फल मिलेगा परन्तु उसे अनुग्रह की तो अपेक्षा रहेगी। इसीसे भक्तिमार्ग (पुष्टिमार्ग) ज्ञानमार्ग (मर्यादामार्ग) से बड़ा है। वल्लभाचार्य दोनों मार्गों को सामने रखते हैं—वे ज्ञानमार्ग के विरोधी नहीं हैं (सूर और नन्ददास के भ्रमरगीतों में जो ज्ञान और योग की खिल्ली उड़ाई गई है, वह समसामयिक धार्मिक परिस्थितियों की प्रेरणा का प्रभाव है। वल्लभाचार्य के सिद्धान्त को उनमें देखना भूल है)। जिस मर्यादामार्ग को उन्होंने वैध बताया है, वह ज्ञानमार्ग ही है।

आचार्य ने तनुजा सेवामार्ग के तीन प्रकार बताये हैं। मंदिरमार्जन, वस्त्रप्रक्षालन आदि (पादसेवन), पंचामृतस्नान, संकल्प, अधिवासन आदि उपचार (अर्चनभक्ति), स्नेहानुकूल वस्त्राभूषण भोगराग सेवा (सख्य)। इन्हीं में सबका समावेश है।

पुष्टिमार्गीयभक्ति नवधाभक्ति से एकांततः भिन्न नहीं है। वल्लभा-चार्य भी नवधाभक्ति मानते हैं—

जीवा स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा
श्रवणादिततः प्रेम्णा सर्वं कार्यादि सिद्धया

(जीवमात्र स्वभाव से ही दुष्ट हैं, दोषभावः हैं, स्वरूप से नहीं। इसकी निवृत्ति के लिए नवधाभक्ति करना चाहिए—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, पूजा, प्रणाम, दासभाव, मित्रभाव, आत्मनिवेदन। इनसे ही प्रेम उत्पन्न होगा—'बालबोध'। १६) परन्तु इन सब प्रकारों से आगे बढ़कर वे ये भी कहते हैं—समर्पणेनाहननो हि तदीयत्वं भवेद्ध्रुवम (आत्मसमर्पण से ही तदीयत्व होता है). वही, १७। 'पुष्टिमार्ग में नवधाभक्ति के रूप' के अध्ययन के लिए श्री बालकृष्ण भट्ट की 'सेवाकौमुदी' दर्शनीय है। इसके अनुसार नवधाभक्ति के क्रम इस प्रकार हैं—१ श्रवण—प्रभु के नामादि और जन्मादि लीला को श्रद्धा

से सुनना २ कीर्तन—प्रभु के नाम चरित्र तथा स्तोत्रों को श्रद्धा से कहना ३ स्मरण—स्वरूप, लीला तथा लीला के परिकर को मन लाना ४ पादसेवन—प्रभु की सेवा (नित्य) और छोहिनी की सेवा से लेकर अन्य भूषणादि की महासेवा तक सेवा (नैमित्तिक) ५ बन्धन—सेवा करते समय जो उपचार किये जायें और दीनता को प्रगट कर प्रभु को नमन करना ६ दास्य—अनुनयभाव से आश्रय चाहना ७ सख्य—सेवा में किसी की बिना प्रेरणा जो हित हो वह करना जैसे ग्रीष्म में पंखा चदनलेप, ऋतु उपचार आदि ८ आत्मनिवेदन—स्पष्ट ही, यह सेवा-मण्डान बाद की सूझ है। वल्लभ भक्ति (पुष्टि) पर बल देते हैं। वे भक्ति की वृद्धि के उपाय भी बताते हैं (देखिये, 'भक्ति वर्द्धिनी)। उनके अनुसार भक्ति अनुग्रह से उत्पन्न होती है परन्तु जब वह प्राप्त हो जाये तो उसके दृढ़ होने के लिए भक्तिमार्गीय साधन श्रवण आदि वांछनीय हैं।

वल्लभाचार्य का कहना है कि मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहकर वर्णाश्रमधर्म का साधन करता हुआ पूजा (सेवादि) से श्रवणकीर्तनादि से कृष्ण की तनुजा वित्तजा सेवा करे। धीरे-धीरे प्रभु में प्रीति होने से अन्यत्र जगदीय पदार्थों में स्नेह का नाश होता है, प्रभु की आसक्ति में गृहादिकों से अरुचि हो जाती है। जब हरि में आसक्ति होते-होते व्यसन हो जाता है तो भक्त कृतार्थ हो जाता है। कृतार्थ हुए भक्त को (प्रभु के साक्षात्कार वाले भक्त को) घर में रहना प्रभु-स्नेह को मिटाना है। वह गृहादि को त्याग कर कृष्ण में मन लगाये। ध्यान रहे, वल्लभ के मतानुसार भक्ति लक्ष्य नहीं है। श्रीकृष्ण में मन लगाना लक्ष्य है। इसी के फलस्वरूप भक्ति है, जो मुक्ति से ऊपर है। भक्त वैष्णव तीर्थों में हरि-सेवात्पर भगवदीयों के साथ रहे। फिर भी यदि उसमें अभिमानादि आते हैं तो वहाँ से अलग पास में अथवा दूर रहे जिससे वह क्षुब्ध न हो। प्रभुसेवा और प्रभुचरितकथा में ही उसकी आसक्ति हो। वल्लभ साधारणतया गृहत्याग और एकांतवास

की शिक्षा नहीं देते। भक्त की तो भगवान रक्षा करता है। वे स्पष्ट कहते हैं—कि सन्यास-भक्ति का विरोध है। भक्ति के लिए सन्यास वांछनीय नहीं। भक्तिमार्ग में साधन-सम्पति के लिए सन्यास लेना दुःखकर है।

परन्तु पुष्टिमार्ग की साधना का सर्वोच्च लक्ष्य निरोध प्राप्ति है। इस अवस्था को पहुँच कर सेवादि व्यर्थ हो जाते हैं। स्त्री पुत्रादि को भूल कर प्रभु से आसक्ति होने को निरोध कहते हैं। कुछ उदाहरणों से महाप्रभु ने इसे स्पष्ट किया है (निरोध लक्षणम् १, २)। यहाँ नद-यशोदा और गोपीगण का कृष्ण-केलि का सुख और विरहदुख उच्चतम ध्येय कहा गया है—ऐसा भाव जिसे प्राप्त हुआ, उसे निरोध प्राप्त हुआ। उसे कीर्तन, गुणगान, क्या उपादेय रह जाता है। उद्धव के व्रज में आने पर जो महान उत्सव हुआ (गोपिकाविरह) वही भक्त को भी लाभ करना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुष्टिमार्ग का 'निरोध' विरह की साधना का ही नाम है—

> विकलत्वंत्याथाऽस्थस्थयं प्रकृति प्राकृतं नहि
>
> ज्ञानं गुणाश्रय तस्मैव वर्तमानस्य बाधकः

(विरह से उत्पन्न उन्माद तथा अपनी प्रकृति में न रहना—ये दोनों विरह की अवस्था हैं। भगवान का ज्ञान और गुण सभी अवस्था में वर्तमान भक्त के भाव को बाधक हैं।

हरि के विरह का अनुभव होने के लिए गृहादि का परित्याग उत्तम है, परन्तु कैसे निरन्तर विरह-भाव से सिद्ध हुई प्रीति है साधन है, और साधन की आवश्यकता नहीं है। मानसी सेवा के फल हैं—(१) अलौकिक सामर्थ्यदान (लीला देखने का दान) (२) सिद्ध मनोरथ फल (संग रहने मात्र दान) (३) अधिकार (लीला में भाग लेने का अधिकार)। कौन फल मिलेगा, यह अनुग्रह की बात है। परन्तु यह सिद्ध है कि पुष्टि (अनुग्रह) प्राप्ति के लिए जीवात्मा की शुद्धता अनिवार्य है। इससे जीव के स्वभावज दोषों को समझ लेना

चाहिये। जीव के दोष ५ हैं—(१) महत (अहंता, ममतादि) (२) देश (दुर्देश में जन्म) (३) काल (दुर्काल, जैसे कलियुग में जन्म) (४) संयोजक (मानसिक दुष्कर्म) (५) संस्पर्शज। इन दोनों का परिहार है भगवन्निवेदन। अनिवेदित किसी भी पदार्थ का व्यवहार न करे। भगवान की निवेदित वस्तु ही उपयोग में लावै। वल्लभ के अनुसार आत्मनिवेदन रूप शरणागति से जीवदोष ब्रह्म में मिलकर ब्रह्मरूप हो जाते हैं (दे० सिद्धान्त रहस्य)। जो निवेदित है, जिसने आत्मासहित सर्वात्मीय वस्तुओं को भगवान के अर्पण कर दिया है, वह कोई चिन्ता न करे, यह जान कर कि कृष्ण रक्षा करेंगे, जो हुआ और जो होगा, उनकी लीला है, वे ही कार्य सिद्ध करेंगे, अनासक्त ही कार्य करे (दे० 'नवरत्न')। पुष्टिमार्गीय विवेक, धैर्य और आश्रय को धारण करता है—१ विवेक—हरि सर्वंनिजेच्छतः करिष्यति—हरि अपनी इच्छा ही करेगा। २ धैर्य—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःख को सहेगा। ३ आश्रय—भगवान ही एक मात्र रक्षक है, यह जानकर अविश्वास नहीं करेगा, अन्य देव में उसे आसक्ति नहीं होगी। कृष्ण की महानता का स्मरण करते ही वह अन्तः प्रबोध करेगा "कि कृष्ण तो दोष रहित हैं। तू तो क्षुद्र है, फिर अपमान का क्या डर, फल-विफल का क्या डर! प्रभु में विश्वास रख, सेवा करे जा, पश्चाताप मत कर। तू समर्पण करके ही कृतार्थ हो, सुखी हो, प्रसन्न हो। (दे० अंतःप्रबोध)

३—सेवा-प्रकार

वल्लभाचार्य ने मध्य-युग के भक्तिपथ के लिए तीन प्रमुख कार्य किये—(१) भागवत के सप्ताह-पारायण का प्रचार, (२) पुष्टिमार्ग का प्रचार और उसके लिए 'सेवाओं' की स्थापना, (३) शुद्धाद्वैतदर्शन की स्थापना। वास्तव में पुष्टिमार्ग और सेवादि की भित्ति शुद्धाद्वैत दर्शन ही है।

'सेवा' से वल्लभ का अर्थ उपासना (साधारण पूजा) नहीं है। उसमें भावना की ही प्रधानता है। साधारण पूजा में कर्मकांड प्रधान है—यहाँ भावना प्रधान है। यह भावना नन्दगोपी, यशोदा-गोप के रूप में है। उपचार महत्वपूर्ण नहीं हैं। असल चीज़ पुष्टि है जिसके लिए ज्ञान, कर्म, भक्ति किसी की भी आवश्यकता नहीं। वह तो भगवान का अनुग्रह है। साधारण रूप से ८ दर्शन (उपचार) हैं—मंगला, ग्वाल, शृङ्गार, राजभोग, उत्थापन, संध्या-आरती, शयन। (विशेष विवरण के लिए लेखक की दूसरी पुस्तक 'सूर साहित्य की भूमिका' पठनीय है)

बाद में भी 'भावना' की ही प्रधानता रही। गोकुलनाथ, हरिराय और द्वारिकाधीश ने कई भावनाग्रंथ लिखे। वास्तव में सेवा प्रकार की विशद योजना विठ्ठल ने की। उन्होंने संगीत, कविता, चित्रकला—सभी को कृष्ण की सेवा में लगाया। होली, दीपावली, अक्षयतृतीया आदि त्योहारों और कृष्ण-सम्बन्धी उत्सवों का आयोजन भी उन्होंने ही किया—इसे 'नैमित्तिक कीर्तन' कहा गया, दैनिक कृत्य 'नित्य' रहा। अष्टछाप के अधिकांश पद इन्हीं 'नित्य' और नैमित्तिक कीर्तनों के लिए बने।

श्रीवल्लभाचार्य के बाद गोपीनाथ गद्दी पर बैठे (१५८७ सं०) और उनकी मृत्यु के बाद विठ्ठलनाथ (१५६१ सं०)। ये 'गोसाईं जी' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं से वल्लभ सम्प्रदाय का विस्तार हुआ। शुद्धाद्वैत और पुष्टि की व्याख्या में इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे—वल्लभ-कृत 'सुबोधिनी' पर टिप्पणी, शुद्धाद्वैत प्रतिपादक ग्रन्थ 'श्रीविद्वन-मण्डन'। इनके ग्रन्थों में साहित्य की मात्रा भी अधिक है। राधाकृष्ण की शृंगार निष्ठा पर कई ग्रन्थ हैं जैसे स्वामिनी स्तोत्र, शृङ्गाररसमंडन, स्वामिनी अष्टयाम, कृष्णप्रेमाष्टक, रससर्वस्व, दानलीला, दशोल्लास। इनके पदों की शैली, विचार और भाषा पर जयदेव का स्पष्ट प्रभाव है जैसे इस पद में

हरिरिह ब्रजयुवती शतसंगे
विलसति करिणी गणकृतवारणवर इवरतिपति मानभंगे
विभ्रम संभ्रमलोल विलोचन सूचित सञ्चित भावम्
क्वापि दृगंचल कुवलयनिकरै रञ्जित तं कलरावम्
स्मित रुचिर तरानम कमल मुदीक्ष्य हरेरति कन्दम्
चुम्बति क्वापि नितम्बवती करतलधृत चिबुकममन्दम्

वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टिमार्ग में राधा का विशेष महत्व नहीं था। वे वात्सल्यभाव से 'नवनीतप्रिया' की उपासना करते थे। विट्ठलनाथ के साथ राधा का महत्व बढ़ा और शृंगारलीला ही प्रधान हो गई। गोसाईं जी के ग्रन्थ इस परिवर्तन के प्रमाण हैं। उन्होंने वि० सं० १६१६ में जगन्नाथपुरी की यात्रा की थी और वे वहाँ ६ महीने ठहरे थे। सम्भव है, इस यात्रा में वे चैतन्य सम्प्रदाय के विशेष सम्पर्क में आये और राधा की ओर विशेषरूप से आकर्षित हुए। वैसे तत्व और काव्य दोनों रूप से राधा की प्रतिष्ठा बहुत पहले हो गई थी। अनेक पुराण, कृष्णोपनिषद, राधोपनिषद, जयदेव और विद्यापति के साहित्य इसका प्रमाण हैं। स्वयं सम्प्रदाय में यह प्रभाव भीतर से आ सकते थे। वल्लभ ने गोवर्धन का काम माधवेंद्रपुरी को सौंपा था, कृष्णदास अधिकारी थे। तब से विट्ठल के समय तक बंगाली पूजा करते रहे। इससे बंगला चंडीदास, विद्यापति, जयदेव सबसे पुष्टिमार्गीय कवि और नेता परिचित हुए होंगे। परन्तु वृन्दावन में पहले कृष्ण मन्दिर बंगाली वैष्णवों ने ही बनाये और चैतन्य के समय तक वृन्दावन कृष्णभक्त बंगालियों का एक उपनिवेश हो गया था। इस उपनिवेश के गीत, साहित्य और पूजापद्धति ने उन सम्प्रदायों को भी अवश्य प्रभावित किया होगा जो बाद में प्रतिष्ठित हुए। स्वयं चैतन्य वृन्दावन आये थे और उनके आने पर चंडीदास, विद्यापति और उमापति के कृष्ण-राधा सम्बन्धी गीत अवश्य ब्रज के एक छोर से दूसरी छोर तक गूँज उठे होंगे। कहा जाता है कि वृन्दावन कृष्ण

के कुछ बाद ही उनकी भक्ति का केन्द्र हो गया। उनके पौत्र वज्रनाभ ने यहाँ विशाल मन्दिर बनाये और कृष्ण की पूजा चल पड़ी। परन्तु इसका ऐतिहासिक प्रमाण अब तक कुछ भी उपलब्ध नहीं हो सका है। यह अवश्य ऐतिहासिक सूत्रों में ज्ञात होता है कि ११वीं शताब्दी के पहले-दूसरे दशाब्द में महावन कृष्ण मन्दिरों का केन्द्र था और महमूद गज़नवी ने इसको नष्ट कर दिया और यहाँ का हीरे-माणिक का सारा ऐश्वर्य ढोकर गज़नी ले गया। तबसे अकबर के समय तक वृन्दावन में किसी मन्दिर का कोई उल्लेख नहीं है, यद्यपि वृन्दा देवी की पूजा होती थी और सारे देश से यात्री उसके लिए इकट्ठा भी होते थे। अकबर की हिन्दूसंतोषी राजनीति के कारण उनके समय में मन्दिरों का निर्माण हुआ और चार पाँच बड़े प्राचीन मन्दिर उसी समय के हैं। तब से औरंगज़ेब के समय तक यह मंदिर-निर्माण का काम बड़ी संख्या में बराबर होता रहा। १५०० ई० में वल्लभाचार्य ने पूर्णमल्ल के मंदिर की स्थापना की और २० वर्ष बाद (१५२० ई०) जब मंदिर बनकर तैयार हो गया, तब श्रीनाथ जी की मूर्ति को वे छोटे मन्दिर से बड़े मन्दिर ले गये और उसे वहाँ पधराया। यह स्पष्ट है कि वल्लभाचार्य ने राधा को स्वीकार नहीं किया परन्तु उनके सेवामण्डान में पूर्ववर्ती सेवाविधि से थोड़ा अंतर था, उसमें मङ्गला, शयन, भोग आदि नियत समय दर्शन के लिए स्थिर किए हुए थे और सारा काम अत्यंत विधि-विधान से होता। संभव है, यह सेवामण्डान बंगाली मन्दिरों की पूजा-पद्धति से प्रभावित रहा हो, नहीं तो इसके लिए आचार्य को बंगाली की आवश्यकता नहीं पड़ता। उस समय के जन्म लेने वाले अन्य हिन्दी सम्प्रदायों वैसे राधा वल्लभी सम्प्रदाय में भी हमें मंगला, शृंगार और शयन आदि मण्डान देखते हैं। इससे यही अर्थ निकलता है कि इन सब का कोई एक मूल केन्द्र रहा होगा और यह मूल केन्द्र गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय ही होगा जो आधी शताब्दी पहले जड़ जमा चुका था। यह स्पष्ट है कि व्रजकेन्द्र में

कृष्णभक्ति का प्रवेश बंगाली वैष्णवों द्वारा हुआ परन्तु शीघ्र ही अन्य शक्तिशाली सम्प्रदायों का भी उदय हुआ। थोड़े ही दिनों में ब्रज कई कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों का केन्द्र हो गया जिनसे मुख्य थे—

१—गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय
२—वल्लभाचार्य का पुष्टिभक्ति सम्प्रदाय
३—हितहरिवंश का राधास्वामी सम्प्रदाय
४—हरिदास का टट्टी सम्प्रदाय

इनमें गौड़ीय सम्प्रदाय तो अवश्य कुछ प्राचीन है, परन्तु शेष तीनों सम्प्रदाय बहुत कुछ समसामयिक हैं। वल्लभ की मृत्यु (१५८७ ई०) तक शेष दोनों समसामयिक सम्प्रदाय बहुत अधिक विकसित हो चुके थे। इन तीनों सम्प्रदायों में राधा का अस्तित्व था, कहीं युगल मूर्ति की भक्ति लक्ष्य थी, कहीं राधा को स्वामिनी मानकर उन्हें कृष्ण से भी ऊँचा दरजा दिया गया था। हिन्दी सम्प्रदायों में पुष्टि सम्प्रदाय विशेष प्रभावशील हुआ, परन्तु यह विठ्ठल के समय (१५६२ ई०—१६४२ ई०) की बात है। राधास्वामी और टट्टी सम्प्रदायों में राधास्वामी सम्प्रदाय की मान्यता विशेष थी। दोनों सम्प्रदायों के प्रवर्तकों के राधाकृष्ण सम्बन्धी हिन्दी पद हमें आज भी उपलब्ध हैं। इन सम्प्रदायों में राधा की जो प्रतिष्ठा थी, उसका भी प्रभाव पुष्टिमार्ग पर बढ़ा होगा। इनमें हितसम्प्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवंश के जन्म संवत् के सम्बन्ध में मतभेद है। राधास्वामी सम्प्रदाय वाले १४७३ ई० मानते हैं, परन्तु हिन्दी के विद्वान १४६६ ई०। ये मध्वाचार्य के अनुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। बाद में इन्होंने एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की और सम्वत् १५८२ (१५२५ ई०) में वृन्दावन में श्रीराधावल्लभ की मूर्ति स्थापित की। इनका रचना काल सं० १६०० से १६४० वि० (१५०० ई०—१५) माना जाता है। इनका एक प्रसिद्ध पद है—

हरि रसना राधा-राधा रट
अति अधीन आतुर यद्यपि पिय कहियत है नागर नट
संभ्रम द्रुम परिरंभन कुंजन ढूँढत कालिंदी तट
बिलपत हँसत विषीदत स्वेदत सुभ सींचते अँसुवन बंशीवट
अंगराग परिधान वसन लागत ताते जु पीतपट
जयश्री हितहरिबंश प्रशंसित श्यामा दे प्यारी कंचनघट

श्री हितहरिबंश राधा को कृष्ण की विवाहिता मानते हैं, हरिदास भी ऐसा ही मानते हैं। इनके काव्यों ने सूरदास को अवश्य प्रभावित किया होगा, विशेषकर निकुंज-केलि जैसे पदों ने जिनमें एकांत तन्मयता के द्वारा राधा कृष्ण की एकात्मता प्रकट की गई है। स्वयं हितहरिबंश के काव्य और चिंतन पर जयदेव का व्यापक प्रभाव जान पड़ता है। दोनों के मङ्गलाचरण श्लोकों की तुलना से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है—

मेघैमेदुरअंवरं वनभुवः श्यामास्तमाल द्रुमै
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिदं राधे गृहं प्रापय
इत्थं नंद निदेशतश्चलियोः प्रत्यध्व कुञ्जद्रुमं
राधामाधवयो र्जयन्ति यमुना कूले रहः केलयः
(जयदेव)

यस्याः कदापि वसनांचल खेलनोत्थ
धन्याति धन्यपवनेन कृतार्थमानी
योगीन्द्र दुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृजभानुभुवोदिशे ऽपि

दोनों में मूल भावना एक ही है। इस प्रकार जयदेव के काव्य ने एक नवीन संप्रदाय को खड़ा कर दिया। स्वामी हरिदास का काव्य शुद्ध काव्य-दृष्टि से इतना ऊँचा नहीं था, जितना हित हरिवंशजी का काव्य, परन्तु तानसेन के गुरु होने के कारण उनके राधाकृष्ण केलि-विहार

के पद भी दूर-दूर तक शीघ्र ही पहुँच गये थे। अकबर के गद्दी पर बैठने के समय तक इनकी काफ़ी ख्याति हो चुकी थी। इनका कविता काल संवत् १६०० से १६१७ (१५४३—१५६० ई०) तक माना गया है। इनके अतिरिक्त गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णवों में से कुछ जैसे गदाधर भट्ट (दीक्षा संवत् १५८४) तब तक ऊँची कोटि की कविता कर चुके थे।

पुष्टिमार्ग में इन सब का प्रभाव सूरदास द्वारा आया। उन्होंने ही पूर्ववर्ती और समसामयिक कवियों की राधा-सम्बन्धी धारणा और कविता का अच्छा अध्ययन कर एक अत्यन्त उत्कृष्ट खंडकाव्य की सृष्टि थी। राधाकृष्ण के प्रथम मिलन से लेकर प्रभास-मिलन तक की सारी कथा उनकी अपनी सूझ थी। अन्य कवियों ने रसशास्त्र के सहारे राधा के सम्बन्ध में पूर्वराग, मान, मानमोचन, खंडिता, मिलन, वियोग के प्रसग खड़े ही कर दिये थे। सूरदास ने इन सब को काव्य में एक स्थान पर गुंफित कर दिया और कथासूत्र भी विकसित किया। इस प्रकार उन्होंने राधा का एक सौष्ठवपूर्ण, विशिष्ट रूप खड़ा कर लिया। १६०२ वि० में उन्होंने सूरसागर सार की रचना की है। अतः इसके पहले ही वह राधासम्बन्धी अपनी धारणा शतशत गीतों में प्रकाशित कर चुके थे।

वास्तव में सूरसागर को केवल भक्त और कवि के रूप में पढ़-पढ़ा कर हम उनकी महान प्रतिभा और उसके सर्वांगीण विकास को छोटा करते हैं। विट्ठलनाथ ने उन्हें "पुष्टिमार्ग का जहाज़" असत्य ही नहीं कहा है। हम देखते हैं कि विट्ठलनाथ ने नन्ददास को दीक्षा देकर साम्प्रदायिक रहस्यों की जानकारी और भक्तिबोध के लिए नन्ददास को सूरदास के हाथों सौंपा था। इससे स्पष्ट है कि वे सम्प्रदाय के व्याख्याता भी थे। अतएव, उनकी राधा-सम्बन्धी मान्यता से विट्ठलनाथ प्रभावित हुए बिना नहीं रहे होंगे। आयु में वे उनके पिता के बराबर थे ही। दोनों का जन्म संवत् १५३५ है। आचार्य की मृत्यु (१५८७ सं०) के

समय विट्ठलनाथ की आयु १६ वर्ष की थी। ७१ वर्ष की आयु में उन्हें सम्प्रदाय की गद्दी मिली। तब सूरदास ५६ वर्ष के वयोवृद्ध रहे होंगे और सूरदास का प्रमुख भाग उन्होंने समाप्त कर दिया होगा। विट्ठलनाथ के गद्दी पर बैठने के १० वर्ष बाद हम उन्हें "सूरसारावली" लिखते पाते हैं। विट्ठलनाथ की रचनाओं को देखने से यह स्पष्टरूप से पता लगता है कि उन्होंने राधा को विशेष महत्व दिया और शृंगारभाव से पुष्ट मधुरभक्ति को भी ग्रहण किया। उससे पहले वात्सल्यभक्ति ही संप्रदाय में मान्य थी। परन्तु फिर भी यह मधुर भक्ति उस प्रकार की भक्ति नहीं थी, जिस प्रकार की भक्ति अन्य सम्प्रदायों में थी। यहाँ आराध्य कृष्ण ही थे, राधा नहीं क्योंकि—

मन में रह्यो नाँहिन ठौर

नन्दनन्दन अछत कैसे आनिए उर और

परन्तु राधा ही तो कृष्णतत्त्व का रहस्य जानती हैं—

राधा परम निर्मल नारि

कहति हौं मन कर्मना करि हृदय दुविधा टारि

स्याम कौ एक तुही जान्यो दुराचरनी और

इसी से वे राधा के प्रेम को परम उदाहरण रूप ही लेते हैं—

पुनि पुनि कहति है ब्रजनारि

धन्य बड़भागिनी राधा तेरे बश गिरधारि

धन्य नन्दकुमार धनि तुम धन्य तेरी प्रीति

धन्य तुम दोउ नवल जोरी कोक कलानिजीति

हम विमुख तुम कृष्णसंगिनि प्राण एक द्वै देह

एक मन एक बुद्धि एक चित दुहुनि एक सनेह

एक छिन बिनु तुमहि देखे श्याम धरत न धीर

मुरलि में तुव नाम पुनि पुनि कहत हैं बलवीर

वल्लभाचार्य के लीलासिद्धान्त के अनुसार उन्होंने राधाकृष्ण कथा को लीला-काव्य का ही रूप दिया। उन्होंने राधा को कृष्ण की प्रकृति, कृष्ण की एकान्तसंगिनी कहा है। उनकी प्रीति तो 'निरन्तर' है, नित्य है, इसी से तो ब्रजलीला नित्य है न! उनकी राधा-माधव कथा का अन्त किस प्रकार है—

राधा माधव भेंट भई
राधा माधव माधव राधा कीट भृंग गति ह्वै जु गई
माधव राधा के रंग राँचे राधा माधव रंग रई
माधो राधा प्रीति निरन्तर रसना कहि न गई
बिहंसि कह्यो हम तुम नहिं अन्तर यह कहि ब्रज पठई
सूरदास प्रभु राधा-माधव ब्रज बिहार नित नई-नई

विट्ठलनाथ ने राधा का वही स्वरूप सम्प्रदाय में माना है जो सूरदास के काव्य में हमें मिलता है। परन्तु उन पर राधास्वामी सम्प्रदाय की मान्यताओं का भी थोड़ा बहुत प्रभाव लक्षित है, विशेषकर स्तोत्रों में। बाद में यह प्रभाव स्वतंत्र रूप से इस सम्प्रदाय के भीतर भी विकासित हुआ। वात्सल्य भक्ति पीछे पड़ गई। मधुर भक्ति ही सब कुछ हो गई नन्ददास के समय (मतलब, कि सूरदास की दूसरी पीढ़ी) में ही मधुर भक्ति की मान्यता सम्प्रदाय, में विशेष हो गई और यद्यपि सेवा मण्डान गोपाल कृष्ण का उसी प्रकार रहा जैसा वल्लभाचार्य ने प्रतिष्ठित किया था, परन्तु लगभग सभी दर्शनों के समय शृंगार के ही पद किसी न-किसी रूप में गाये जाने लगे जैसे मंगला के पदों में खण्डिता सम्बन्धी-पद भी सम्मिलित है। इस प्रकार सम्प्रदाय को वह रूप प्राप्त हुआ जो अब भी मान्य है।